अखण्डज्योति

सितम्बर १९९१

क्या हमारे संकल्प अधूरे ही रह जाएँगे ?

शांतिकुंज ने बड़े-बड़े उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिए हैं । उन्हें निभाने को यह संस्थान संकल्पित है । सारे समाज का कायाकल्प एवं विश्व स्तर पर वैचारिक क्रान्ति एक ऐसा पुरुषार्थ है, जिसे पूरा करने के लिए एक यात्रा गायत्री परिवार के अधिष्ठाता-आराध्य परम पूज्य गुरुदेव ने आज से साठ वर्ष पूर्व आरंभ की थी । वह अनवरत चलती रहे, यह हमारा इस विराट समाज को व गुरुसत्ता को दिया गया आश्वासन है । इस आध्यात्मिक संगठन ने देव संस्कृति को पुनर्जीवित कर पुनः भारतवर्ष के हाथों समग्र विश्व का नेतृत्व सौंपने की जो बात कही है, वह एक भवितव्यता है, दैवी योजना है व महाकाल का संकल्प है । उसे तो पूरा होना ही है, यह सुनिश्चित माना जाना चाहिए ।

विस्तार प्रक्रिया के अन्तर्गत जो योजनाएँ अभी हाथ में हैं, वे एक से एक विलक्षण व असीम संभावनाओं को लिए हुए सामने खड़ी हैं । इनमें से कुछ इस प्रकार हैं ।

(१) कार्य विस्तार को देखते हुए न्यूनतम एक हजार नए कार्यकर्त्ताओं का मिशन में प्रवेश, उनके आवास आदि का प्रबन्ध ।

(२) देवात्मा हिमालय की भव्य प्रतिमा का निर्माण ।

(३) ज्योतिर्विज्ञान की एक अभिनव वेधशाला की स्थापना ।

(४) दुर्लभ जड़ीबूटियों एवं विलक्षण-समाप्त होती चली जा रही वनौषधियों से भरी एक विशाल नर्सरी की स्थापना ताकि पर्यावरण परिष्कार और प्रकृति पूजन के लिए युद्ध स्तर पर वृक्षारोपण और कृषि स्तर पर जड़ीबूटी उत्पादन कार्यक्रम देश भर में चल पड़े ।

(५) भारत के सात लाख गाँवों के उत्थान की ग्राम्य विकास योजना जिसके अन्तर्गत हर गाँव के न्यूनतम पाँच व्यक्ति व अधिकारी प्रशिक्षित किए जा सकें । शांतिकुंज तंत्र द्वारा ऐसा प्रशिक्षण दिए जाने संबंध में निर्णायक स्तर पर वार्ता चल रही है ।

(६) सारे देश के शिक्षक व प्रशासक वर्गों के लिए अपने शिविरों के समानान्तर मॉरल एजुकेशन सत्रों का नियमित आयोजन । फिलहाल उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग के प्रधानाचार्यों का शिक्षण यहाँ चल रहा है ।

(७) सिनेमा व वीडियो की विकृति से लड़ने के लिए कला मंच का आधुनिक तकनीकी स्तर पर विकास ।

(८) प्रवासी भारतीयों व देवसंस्कृति के बारे में जानने को जिज्ञासु विदेशियों के लिए सर्वांगपूर्ण शिक्षण ।

(९) राष्ट्र की स्वास्थ्य समस्या से लड़ने हेतु एलोपैथी के समानान्तर वनौषधि विज्ञान पर आधारित वैद्यक प्रक्रिया का पुनर्जीवन व विस्तार ।

इन सबके लिए नयी जमीन चाहिए, नया भवन निर्माण चाहिए और भारी भरकम साधन अपेक्षित हैं । सेना कितनी ही स्वस्थ, समर्थ और दक्ष हो, गोला बारूद और साजो-सामान के बिना कैसे तो लड़े व कैसे विजय प्राप्त करे ? शासन से इस संगठन ने कभी सहयोग माँगा नहीं । पूज्य गुरुदेव कहते थे कि ब्राह्मण को राजा का धान्य नहीं खाना चाहिए । ब्रह्म बीज के विस्तार को संकल्पित हम सभी राजतंत्र का धन कभी शांतिकुंज में प्रवेश नहीं होने देंगे । फिर समस्या वही सामने आ खड़ी होती है । हम माँग सकते नहीं और स्वजनों की कर्त्तव्यनिष्ठा नींद से उबरती नहीं तो किसके दरवाजे जाएँ और किसके सामने हाथ पसारें ? यह विशुद्धतः एक ब्राह्मण संस्था है तथापि किसी से न माँगने के संकल्प से हम निष्ठापूर्वक प्रतिबद्ध हैं । कुछ कहना होगा तो अपनों से ही कहेंगे, राजी से दें या बेराजी से । महाकाल की अपेक्षाएँ तो हर स्थिति में पूर्ण अपनों को ही करनी पड़ेंगी । जिनने श्रद्धापूर्वक अपने आपको परम पूज्य गुरुदेव से, उनके महान मिशन से जोड़ा है, वे गिलहरी जितनी मिट्टी तो इस सेतुबन्ध में डालें हीं । दीक्षास्तर से लेकर अनुदान पाने तक विभिन्न रूपों में जुड़े परिजन अपना बीस पैसा प्रतिदिन मिशन को देने का कर्त्तव्य पालन करें । तो हमें न किसी से कुछ कहना पड़ेगा और न साधनों के लिए मन मारकर बैठना पड़ेगा । इतना नियमित चलता रहा तो निश्चित ही सामने दिखाई दे रही मंजिल को हम सभी भावनाशीलों का कारवाँ पूरा कर सकेगा । बार-बार विचार आता है कि क्या भावना संपन्नों के होते हुए भी हमारी योजनाएँ अधूरी रह जाएँगी , संकल्प बिना पूरे किए रह जाएँगे ?

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्
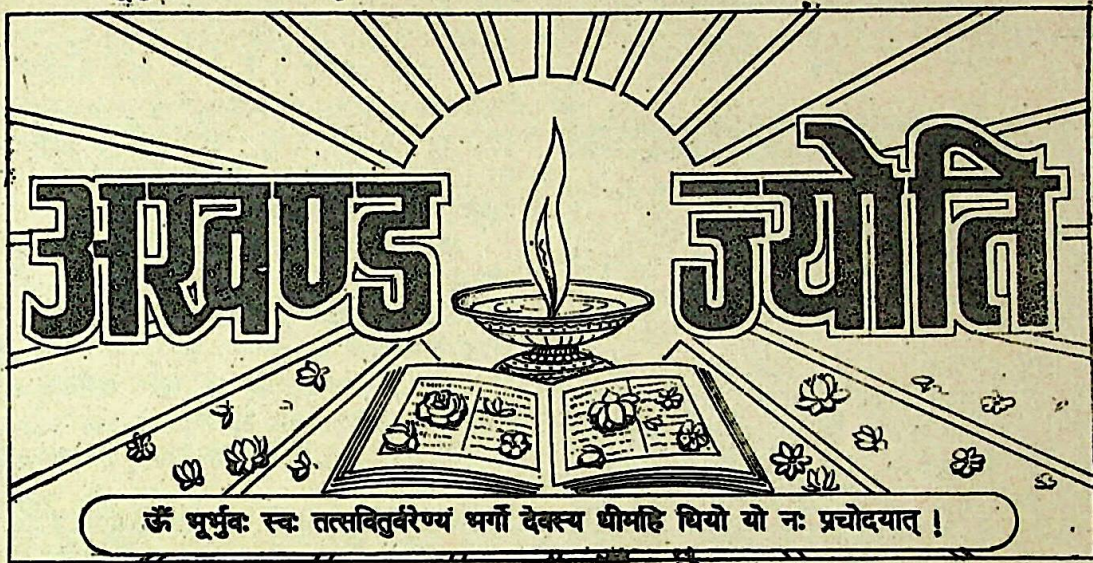
वर्ष ५४
अंक ९
सितम्बर १९९१
वि. सं. भाद्रपद आश्विन २०४८

संस्थापक—वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

वार्षिक चन्दा
भारत में ३५/—विदेश में ३००/—
आजीवन ५००/—

उगोगे, उठोगे तब जब गलना सीखोगे

बीज की तीन ही गति हैं—या तो वह बीज बनकर गले और अपने को सुविकसित पौधे के रूप में परिणत करके अपने जैसे अनेक बीज पैदा करे और अपना वंश चलाता रहे। दूसरी यह कि पिसकर आटा बन जाय फिर रोटी के रूप में एक प्राणी का पेट भरे और अन्त में दुर्गन्धित विष्ठा बनकर किसी आड़ में उपेक्षित पड़ा रहे। तीसरी यह कि भीरुता और संकीर्णता से ग्रसित आत्म—रक्षा की बात सोचता रहे और कीड़े मकोड़ों अथवा सड़न—सीलन द्वारा नष्ट कर दिया जाय।

मनुष्य—जीवन की भी यही तीन गतियाँ हैं, परमार्थ—प्रयोजनों में अपने को संलग्न करके यशस्वी जीवन जिये और संसार की सुख—शान्ति में योगदान करे—यह पहली गति है। दूसरी गति यह कि अपने शरीर और परिवार को ऐश्वर्यवान् बनाने पर ध्यान को केन्द्रित रखे, पेट और प्रजनन की समस्याओं में उलझा रहे। उचित—अनुचित का विचार न करके पशु—स्तर की जिन्दगी गुजारे और अन्ततः विष्ठा जैसी हेय और घिनौनी परिणति प्राप्त करे। तीसरी गति अति कृपणता, अति संकीर्णता और अति स्वार्थ बुद्धि की है उस स्तर के लोग न परमार्थ सोचते हैं, न स्वार्थ।

मनुष्य जीवन की सार्थकता और मानवी बुद्धि की प्रशंसा इस बात में है कि वह प्रथम गति का वरण करे और श्रेष्ठ सज्जनों के मार्ग का अवलम्बन करे। ईसा ने लोगों से कहा था—"मूर्खो! जो बीज तुम बोते हो वह गले बिना नहीं उगता। भौतिक रूप से तुम गलोगे तो आध्यात्मिक रूप से ऊँचे उठोगे।"

दुखी की पीड़ा

रह—रह कर उठते कराहटों के मन्द स्वरों से वातावरण स्पन्दित हो रहा था। इस करुण रव में क्षीणता—मन्दता के बावजूद एक तीव्रता थी। पुकार की तीव्रता जो मठ के उद्यान में बैठे पारस्परिक चर्चा में निमग्न प्रत्येक भिक्षु के हृदय को स्पर्शकर एक निराशा के साथ वापस लौट जाती। स्पर्श अप्रभावी सिद्ध हो रहा था। पुकार अपनी तीव्रता के बावजूद निरर्थक थी। तब क्या सैकड़ों की संख्या में उपस्थित जनों के शरीर में हृदय न था? यदि था तब......? किन्तु हृदय सिर्फ शरीर का अवयव भर तो नहीं। सिर्फ रक्त—मांस से बना पिण्ड तो नहीं। यह रक्त संचरण प्रणाली का केन्द्र होने के अलावा और भी तो कुछ है? जहाँ से मन प्राण में भावनाओं का संचार होता है।

कराहटों की खोज अधूरी रह गई। पुकार के करुणरव भिक्षुमण्डल में अचानक मच गई हड़बड़ी में विलीन होने लगे। प्रत्येक भिक्षु के चेहरे पर आश्चर्य घना होता गया। पहले तो ऐसा कभी नहीं हुआ आज ...अ....चा .... नक फुसफुसाहट उठी और वायु के झोंकों में विलीन हो गई। भीड़ में से एक दो व्यक्ति मठ के संचालक को बुलाने दौड़ गए। कुछ ही पलों के अन्तराल में मठ के संचालक अपने वरिष्ट सहकर्मियों के साथ मुख्य द्वार पर उपस्थित हो गए।

इतनी देर में तथागत द्वार में प्रविष्ट हो चुके थे। चरण वन्दन के लिए उमड़ती भीड़ को आनन्द ने हाथ के इशारे से वर्जित कर दिया। बुद्ध ने उपस्थित भिक्षु समुदाय पर नजर डाली। उनके प्रशान्त मुख मण्डल पर मुसकान की हलकी रेखा उभरी और एक गहरी प्रशान्ति में विलीन होने लगी। कराहटों के क्षीणरव यदा—कदा मौन को भंग कर देते।

तथागत के कदम मठ के कोने में स्थित एक कक्ष की ओर बढ़ रहे थे। भिक्षु आनन्द उनके साथ थे। इन दोनों के लिए मठ के परिसर का प्रत्येक स्थान भली प्रकार परिचित था। संचालक के मन में कुछ शंका हुई। साथ में उपस्थित वरिष्ठ सदस्यों की भौंहों पर बल पड़े। यह कक्ष तो पिछले कई मास से सर्वथा उपेक्षित था। कोई कुछ अधिक सोचता इससे पहले महात्मा बुद्ध कोने में स्थित कक्ष में पहुँच चुके थे। भदन्त आनन्द भी पीछे थे। मठ के संचालक तथा अन्य वरिष्ठ सदस्यों ने सहमते हुए प्रवेश किया।

बुद्ध ने देखा एक रुग्ण भिक्षु अपनी कुटिया में अकेला बेसुध पड़ा है। किसी के द्वारा परिचर्या न किए जाने के कारण वह मल—मूत्र से सन गया था। देखते ही तथागत उसके कष्ट से एकाकार हो गए। हल्के से उसके माथे का स्पर्श करते हुए बोले "तुम्हें क्या कष्ट है भाई?"

"अतिसार है भगवन्"। भिक्षु की पीड़ा में डूबी आवाज उभरी।

"कोई भी तुम्हारी परिचर्या को नहीं आया।" कथन में आश्चर्य था।

"नहीं।" एक शब्द में सारे अस्तित्व की निराशाजनक वेदना साकार हो उठी।

"ऐसा क्यों हुआ भिक्खुनाल तुम्हारी देखभाल नहीं करते?"

"भगवन्! वे सब आत्मकल्याण और लोकसेवा में निरत रहते हैं मैंने यहीं सुना है। शायद उन्हें व्यक्ति सेवा की फुरसत नहीं।"

अपने पास खड़े भिक्षुओं से कुछ न कहते हुए तथागत ने भदन्त आनन्द से कहा—"जाओ आनन्द जल ले आओ। हम इस भाई की सेवा करेंगे।"

जल कलश आने पर भगवान ने स्वयं अपने हाथों से भिक्षु के शरीर की सफाई की। इतने में आनन्द ने पूरे कमरे को साफकर डाला। जीवन और स्थान दोनों में नई प्राण चेतना संचरित हो उठी।

संध्या होने को थी। संध्याकालीन प्रार्थना के लिए सभी भिक्षुगण एकत्र हो रहे थे। परिचर्या के उपरान्त तथागत सभा में पहुँचे। उन्होंने बिना किसी भूमिका के भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाइयो क्या हम में से, कोई एक भिक्षु रोगी है।" "हाँ है।" उसकी देख भाल कौन कर रहा है?"

प्रश्न के उत्तर में सभी चुप थे। थोड़ी देर सन्नाटा छाया रहा। स्वयं बुद्ध ने मौन भंग करते हुए कहा —"तुम सब लोक सेवी हो आत्म—साधना मार्ग के पथिक हो। इस मार्ग पर किसकी उपलब्धियाँ क्या हैं? यह तो ज्ञात नहीं। पर ध्यान रखो इन दोनों के खरेपन की कसौटी है दुःखीजनों की निष्काम सेवा। साधना और लोकसेवा दोनों ही मानसिक कुशलता और बौद्धिक प्रखरता से नहीं उपजा करतीं। वाणी की प्रगल्भता भी इनके विकास के लिए यथेष्ट नहीं। हृदय की वृत्ति के विकास का एकमेव साधन है भावपूर्ण निष्काम सेवा।" हृदय कुहर से निकली तथागत की भावपूर्ण वाणी उपस्थित प्रत्येक जन को आत्म परीक्षण के लिए विवश करने लगी। *

ईश्वर विश्वास और उसके फलितार्थ

सृष्टिक्रम नियम व्यवस्था के साथ चल रहा है। ग्रह तारक अपनी-अपनी धुरी और कक्षा पर बिना एक क्षण का भी आगा पीछा किए सतत् चलते रहते हैं। प्राणी और बीज अपने अनुरूप ही सन्तति उत्पन्न करते हैं। दिन-रात और ऋतु परिवर्तन के क्रम में एक सुव्यवस्था बनी हुई हैं। इसी प्रकार कर्मफल भी एक दैवी व्यवस्था है। दूध को दही बनने में; बीज को पल्लवित होने में कुछ समय तो लग जाता है किन्तु कृत्यों के अनुरूप भले बुरे प्रतिफल निश्चित रूप से उपलब्ध होते रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो यहाँ जंगल का कानून चलता। "जिसकी लाठी तिसकी भैंस" वाली नीति का बोलबाला रहता। पर ऐसा है नहीं। प्रयत्न करने वाले पहलवान, विद्वान, धनवान कलाकार आदि बनते हैं। नशा पीने वाले उन्मत्त बनते और विष खाने वाले प्राण गवाँ बैठते हैं। यह कार्य फल की सुनिश्चित व्यवस्था का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

हमें सदाशयता का परिचय देना और कुकर्मों से बचना चाहिए। पर प्रमाद तो प्रमाद ही ठहरा अल्हड़पन की आदत भी मनुष्य को कम हैरानी में नहीं डालती। दूसरों को नशेबाजी के दुष्परिणाम भुगतते देखते भी मनुष्य उस खतरे पर ध्यान नहीं देता और देखा देखी उसी कुटेव को अपनाने लगता है।

आत्मिक विकास इस स्तर का न होने से एक भारी कमी रह जाती है कि उचित अनुचित का भेदभाव भी न बन पड़े किन्तु मनुष्य आमतौर से इसी प्रसंग में भारी भूल करता है। तत्काल फल मिलता रहा होता तो झूठ बोलने वाले के मुँह में छाले पड़ जाते। चोरी करने वाले के हाथ में लकवा मार जाता। व्यभिचारी नपुंसक हो जाते तो न धर्म मर्यादा की आवश्यकता पड़ती और न ईश्वर को साक्षी बनाने की। यह छूट मनुष्य को इसलिए मिली है कि वह अपनी विवेक बुद्धि से काम ले। अपनी गौरव गरिमा को ध्यान में रखते हुए निर्णय ले तो वस्तुतः स्वेच्छाचार ही उद्धत अहंकार की प्रतिकृति है अनगढ़ व्यक्ति मर्यादाओं और वर्जनाओं की उपेक्षा करके स्वच्छन्दतापूर्वक संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रेरित होकर वह करता रहता है जो उसे नहीं ही करना चाहिए। यही कारण है कि प्रगति की समस्त सुविधाएँ और संभावनाएँ रहते हुए भी लोग उलझनों में उलझते और संकटों के दल-दल में फँसे दिखाई पड़ते हैं। अन्य जीव चैन की जिन्दगी जी लेते हैं। पर मनुष्य को तो हर घड़ी विपन्न उद्विग्न स्थिति में रहना पड़ता हैं।

यह स्वेच्छाचार कैसे रुके ? व्यक्ति शालीनता से अनुबंधित कैसे रहे ? समाज में परस्पर सहयोग और सद्भाव का प्रचलन कैसे रहे ? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर मिलता है कि किसी नियामक सत्ता का अस्तित्व वह सच्चे मन से अनुभव करे। उसे व्यापक और सर्वदर्शी माने तथा उसकी न्याय निष्ठा पर निश्चित विश्वास करे। इस भावना के साथ ईश्वर को मान्यता देना ही सच्ची आस्तिकता है।

ईश्वर को मानते और पूजते तो असंख्य हैं। पर उनकी मान्यता भ्रान्तियों से भरी होती है। फलतः उसका प्रतिफल जो सज्जनता और उदारता के रूप में प्रकट होना चाहिए वह नहीं होगा। लोग ईश्वर को सभी मानवी दुर्बलताओं से घिरा हुआ एक ऐसा व्यक्ति मानते हैं जिसे अपने पक्ष में थोड़े से प्रलोभन या वाक् छल द्वारा सहज ही बहकाया, फुसलाया जा सकता है। उससे मन मानी मुराद पूरी करा लेने का षड्यंत्र रचते हैं। इसके लिए गिड़ गिड़ाते हुए स्तोत्र पाठ भी करते हैं और यत्किंचित पूजा पत्री के नाम पर उपहार भी प्रस्तुत करते हैं। उद्देश्य चापलूसी और रिश्वत जैसा ही होता है। भगवान प्रत्यक्ष दीखते तो शायद कुछ अधिक करने की हिम्मत भी की जाती पर एक ओर पूजन, दूसरी ओर अविश्वास का मन बनाए रहने से इतनी ही कुछ चिन्ह पूजा की जाती है जिसके निरर्थक चले जाने पर भी कोई बड़ा जोखिम न उठाना पड़े। यही विडम्बना है जो तथाकथित ईश्वर भक्ति के नाम पर लकीर पीटने जैसी चिन्ह पूजा होती है। उसका प्रतिफल भी उस परम सत्ता के न्याय से कुछ उलटा सीधा हो तो उसे अनायास ही मिला समझना चाहिए। क्योंकि ईश्वर के यहाँ अंधेरगर्दी नहीं है। उसकी न्याय तुला ही सबका यथोचित निर्णय करती है।

ईश्वर को न किसी से प्रेम है न ईर्षा। न वह किसी पर वरदान बिखेरता है, न किसी को शाप देता है। उसकी विधि व्यवस्था का जो अनुशासन पालते हैं वे सुखी रहते हैं। उन पर ईश्वर का प्रेम समझा जा सकता है। किन्तु जो मर्यादाएँ तोड़ते हैं, कुमार्ग पर चलते हैं, वे अपने कृत्यों का दुष्परिणाम भुगतते हैं। इसे ईश्वर की अप्रसन्नता कह सकते हैं। ईश्वर एक नियम अनुशासन है। वह स्वयं अपने नियमों से बँधा है और अन्य सभी प्राणी तथा पदार्थ उसी अनुबंध का पालन करने के लिए बाधित हैं। उनमें से किसी के साथ न कड़ाई बरती जाती है और न नरमी दिखाई जाती है। मनुहार या उपहार देकर उसे पक्षपात के लिए सहमत भी नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रत्येक आस्तिक का कर्तव्य है कि ईश्वर को सर्वव्यापी न्यायकारी मानकर अपने चिन्तन और चरित्र को सही, खरा बनाए रखे उसमें न स्वेच्छाचार स्वयं बरते और न उच्छृंखलता किसी और को बरतने दे।

नियन्ता की क्षमताएँ असंख्य हैं, वे विभिन्न प्रयोजनों के लिए विभिन्न प्रकार से सक्रिय होती रहती हैं। इसमें मानवी अन्तराल को प्रभावित करने वाली धारा सज्जनता और सदाशयता की है। उसे सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय भी कह सकते हैं। सूर्य की धूप निकलते ही कमल के फूल खिलने लगते हैं। इसी प्रकार पारब्रह्म का सान्निध्य होते ही मनुष्य के गुण-कर्म स्वभाव उत्कृष्टता की महँक से महँकने लगते हैं। भक्ति कोई भावुक आवेश नहीं है जिसमें ईश्वर के दर्शन जैसा कोई आग्रह रोपा जा सके। जो सर्वव्यापी है जो कण-कण में समाया हुआ है वह स्वभावतः अपने पास भी है। बाहर के वातावरण में भरा हुआ है और अंतरंग में अन्तः करण में भी उसकी महत्ता ओतप्रोत है। अज्ञान के कारण ही वह दूर प्रतीत होता है। विवेक उभरने पर वह अति समीप दृष्टिगोचर होने लगता है।

विराट ब्रह्म भी ईश्वर का दृश्यमान स्वरूप है। शक्ति रूप सर्वव्यापी सत्ता का वास्तविक स्वरूप तो निराकर ही हो सकता है। ध्यान धारणा का आध्यात्मिक साधनापरक उद्देश्य पूरा करने के लिए कोई प्रतिमा बनानी पड़ती है। मनुष्य की कल्पना मनुष्य देहधारी भगवान ही रच सकता है। इसलिए अपनी मान्यता एवं श्रद्धा के अनुरूप अवतारों के रूप में देवताओं की छवि जैसी आकृतियों को मान्यता के अनुरूप ही सृजा गया है। इसीलिए "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के अनुरूप एक को ही बहुत रूपों में दृष्टिगोचर होने वाला कहा गया है।

ईश्वर का विराट् दृश्यमान स्वरूप यह विराट विश्व ही है। अर्जुन को, यशोदा, कौशिल्या, काक भुसण्डि को इसी रूप में भगवत दर्शन हुए थे। चर्मचक्षुओं से यह रूप कोई भी कभी भी देख सकता है। विराट् विश्व की पूजा उसकी स्वच्छता प्रगति एवं सुसज्जा के रूप में ही की जा सकती है। अबकी अपेक्षा अगला समय अधिक समृद्ध, समुन्नत, प्रगतिशील सुसंस्कृत हो इसके लिए प्राणपण से प्रयत्न करना यह विराट् की उपासना है। ऐसे भावनाशील संसार को भगवान का उद्यान मानकर स्वयं कर्तव्य परायण माली की तरह उसके उत्कर्ष अभ्युदय में अपना समय, श्रम, मनोयोग, एवं साधन लगाते रहे हैं। यह कर्मयोग भी है। गीता में इसी का प्रधानतः प्रतिपादन है।

आस्तिकता की भावना मनुष्य की उच्छृंखलता पर अंकुश लगाती है। ऊँट को नकेल बैल को नाथ घोड़े को लगाम, हाथी को अंकुश, के सहारे वश में किया जाता है। सरकस के जानवरों को उनका शिक्षक चाबुक से डराकर इच्छित कृत्य सिखाता और कराता है। ईश्वर विश्वास भी यही करता है। *

गुरु शिष्य प्रवास पर जा रहे थे। सायं काल हुआ तो नदी तट पर पास पास संध्या करने बैठे।

गुरु ध्यान मग्न थे। सामने से व्याघ्र आता देखकर शिष्य भागा और पेड़ पर चढ़ गया। व्याघ्र आया। समाधिस्थ संत को सूँघ और कुछ सोचकर वापस चला गया।

यात्रा दूसरे दिन भी चली। दोनों साथ थे। रास्ते में भेड़िया सामने आया। गुरु ने डंडा फटकारा और भगाने के लिए पत्थर फेंका। भेड़िया भाग गया।

शिष्य ने गुरु से पूछा-कल व्याघ्र आपको सूँघ रहा था तब अविचल बने रहे। आज छोटे से भेड़िये से डर रहे हैं और उसे खदेड़ने में लगे हैं। ऐसा क्यों?

गुरु ने कहा "कल मेरे साथ समर्थ भगवान था। आज तुम्हारे जैसे दुर्बल की सहायता पर मेरा जरा भी भरोसा नहीं है।"

ऋद्धि-सिद्धियों का उद्घाटन कैसे हो अंतराल में ?

जो कुछ प्रत्यक्ष दिखाई देता है, वही कम विलक्षण नहीं है । प्रत्यक्ष चेतन मस्तिष्क की उपलब्धियाँ ही चमत्कारी होती हैं । विद्वान, लेखक, वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक, व्यवसायी, कुशल राजनेता और सफल उद्योगपति अपने कुशल मस्तिष्क के आधार पर ही सफलता प्राप्त करते हैं अपनी मस्तिष्कीय प्रतिभा से वह स्वयं का और दूसरों का कितना हित साधन करते हैं ? यह किसी से छिपा नहीं है । इस प्रत्यक्ष और चेतन मस्तिष्क से भी अधिक रहस्यपूर्ण अचेतन मस्तिष्क है । अभी मनोविज्ञानी इस मस्तिष्क के क्रियाकलापों का केवल सात प्रतिशत भाग ही जान पाए हैं । शेष तो अज्ञात ही पड़ा है और जितना कुछ जाना जा सका है, वही इतना विलक्षण तथा रहस्यपूर्ण है । उसके आधार पर मानव को अतिमानव और उसे विलक्षण शक्तियों से सम्पन्न करने की बात सोची जा रही है ।

मनःशास्त्रियों के अनुसार चेतन की अपेक्षा अचेतन बहुत अधिक बलवान और समर्थ है । शरीर यात्रा की स्वसंचालित गतिविधियों का संचालन, नियंत्रण तथा परिवर्तन इस अचेतन मस्तिष्क द्वारा ही होता है । मनुष्य की अभिरुचि, प्रवृत्ति और आदत बहुत कुछ इसी अचेतन मस्तिष्क में जड़ें जमाये बैठी रहती हैं । मोटे तौर पर अभी इतना ही कुछ जाना समझा जा सका है । पर अब इस संबन्ध में मैटाफिजिक्स, परामनोविज्ञान, अतीन्द्रिय विज्ञान, आदि कितनी ही विज्ञान की धाराएँ आरम्भ हुई हैं और इन धाराओं में अचेतन मस्तिष्क के बारे में जो खोजबीन शुरू की है, उनसे निष्कर्षतः यह पाया गया है कि यह संसार का सबसे अधिक रहस्यमय, अद्भुत और शक्तिशाली यंत्र है ।

इस दिशा में होती जा रही नई-नई खोजों के आधार पर यह कहा जा रहा है कि चेतन मस्तिष्क को शिथिल कर के इच्छा शक्ति, प्राण-शक्ति को यदि अचेतन का विकास करने में लगाया जा सके, तो व्यक्ति अपने शरीर और व्यक्तित्व में कायाकल्प जैसा परिवर्तन कर सकता है । वह अति दीर्घजीवी हो सकता है, अदृश्य जगत का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसमें चल रही हलचलों को मंद, शिथिल एवं परिवर्तित कर सकता है । इन संभावनाओं को भारतीय ऋषि महर्षि न जाने कब से योग साधना द्वारा प्रत्यक्ष करते रहे हैं और उन्हें प्रत्यक्ष तथा प्रमाणित करने की अब भी पूरी गुंजाइश है क्योंकि वह एक विज्ञान है जो प्रकृति के रहस्यों को अपने ढंग से सुलझाने में सुनिश्चित निष्कर्ष तक काफी समय पहले पहुँच चुका है । इन नियमों के अनुसार कोई व्यक्ति यदि अभी भी प्रयत्न करे तो उन नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर अभी भी इन संभावनाओं को साकार किया जा सकता है ।

योग विज्ञान का मूल सिद्धान्त चित्त वृत्तियों का निरोध है । अर्थात् मस्तिष्क की आत्यंतिक सक्रियता को नियंत्रित करके उसकी चेतना शक्ति के अपव्यय को बचा लेना और उसे बचे हुये अचेतन प्राण प्रवाह को अचेतन के विकास में नियोजित कर देना । निस्संदेह यह एक पूर्ण विज्ञान सम्मत प्रक्रिया है और इसके लाभ अलौकिक उपलब्धियों के रूप में देखे जा सकते हैं । समाधि की स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति जब चित्त-वृत्तियों को पूरी तरह चेतना में लय कर देता है, इस स्थिति में त्रिकालदर्शी और विश्व की जड़ चेतन सत्ता को प्रभावित करने में समर्थ बन सकता है । इसमें न तो कोई आश्चर्य जैसी बात है और न ही यह कोई असंभव कल्पना है ।

मनुष्य ऐसी कई अद्भुत क्षमताओं से वंचित है जो विश्व के अगणित जीव-जंतुओ को प्राप्त हैं , इसका एक ही कारण है कि मनुष्य का वैज्ञानिक संस्थान अतिशय सक्रिय है । इस अतिशय सक्रियता के कारण मानवी चेतन ऊष्मा अचेतन को दबा देती है और उससे शरीर संचालन तथा अन्य मस्तिष्कीय गतिविधियाँ भर पूरी हो पाती हैं । वह ऊष्मा जो अचेतन को सक्रिय कर उससे अलौकिक और अद्भुत प्रयोजन पूरे करा सकती थी , एक प्रकार से कुण्ठित ही पड़ी रहती है । मनुष्य की अधिकांश शक्तियाँ चेतन मस्तिष्क को ही सार्थक रखने में खप जाती हैं, इसलिये वह उन अलौकिक क्षमताओं से वंचित रह जाता है, जो अन्यान्य जीव-जन्तुओं को प्राप्त रहती हैं । स्पष्ट है कि

जीव-जंतु बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े रहते हैं, उनका चिंतन और चेतन शिथिल रहता है। इसका लाभ उनके अचेतन को मिलता है और वे योगियों जैसे कितने ही अद्भुत कार्य कर सकते हैं।

उदाहरण के लिये कुत्तों की घ्राण शक्ति इतनी सूक्ष्म होती है कि वे व्यक्तियों के शरीर की गंध पहचान लेते हैं। उसी गंध के आधार पर भीड़ भाड़ में भी अपने मालिक को पहचान लेते हैं। दोषियों और अपराधियों को पकड़वाने में प्रशिक्षित कुत्ते अपनी घ्राण शक्ति के कारण ही सफल होते हैं। जिस आधार पर वे चोरी का, चोरों का या अपराधी का पता लगाते हैं, वह उनके अधिक विकसित अचेतन मस्तिष्क से संबंधित घ्राण शक्ति ही होती है। चमगादड़ के ज्ञान तंतु राडार क्षमता से संपन्न होते हैं। इस क्षमता के आधार पर वे विभिन्न वस्तुओं से निकलने वाली रेडियो तरंगों को भली-भाँति पहचान लेते हैं और घोर अंधकार में अपने असपास की वस्तुओं का स्वरूप एवं स्थान समझ कर बिना किसी से टकराये उड़ते रह सकते हैं। समुद्री मछली टरास्किन अपने शरीर से एक प्रकार की रेडियो तरंगें निकालती है। पानी के भीतर ही वे दूर तक फैलती हैं और इस क्षेत्र के जीव-जन्तुओं से टकरा कर उसी के पास वापस लौट जाती हैं। उनका अचेतन मस्तिष्क क्षण भर में यह जान लेता है कि कौन जीव किस आकृति-प्रकृति का कितनी दूर है ? उसी आधार पर वह अपने बचाव तथा आक्रमण की योजनाबद्ध तैयारी करती हैं।

जीव विज्ञानियों की मान्यता है कि कई जीव जंतुओं ने अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार अपने शरीर में ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न करली हैं जो आरम्भ में नहीं थीं। स्पष्ट ही वे क्रियाकलाप इन जीव-जंतुओं का अचेतन मन ही कराता है। यदि अचेतन मन की सामान्य शक्तियों को चेतन मस्तिष्क की उत्तेजित ऊष्मा द्वारा नष्ट न किया जाय तो अन्य जीवों की तुलना में हजारों गुना अधिक विकसित मानवीय मस्तिष्क इतनी अधिक दिव्य विशेषताएँ अर्जित कर सकता है जितने में कि समस्त जीव जंतुओं की सम्मिलित अचेतन सत्ता से भी संभव नहीं हो सके।

योगी योग साधना द्वारा चेतन मस्तिष्क की अनावश्क सक्रियता में नष्ट होने वाली ऊर्जा को रोक कर अचेतन को समर्थ बनाने में प्रयुक्त करते हैं। इस संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता है कि योग साधना विद्या विलास या बौद्धिक विकास पर प्रतिबन्ध लगाती है। उसमें मानसिक उत्कर्ष, विद्याध्ययन कला-कौशल और ज्ञानार्जन की पूरी छूट है। प्रतिबन्ध है तो केवल इस बात पर कि मनःक्षेत्र को उत्तेजित, विक्षुब्ध एवं अशान्त न होने दिया जाय।

इस चरण में एकाग्रता का अभ्यास करना पड़ता है। मन में उठने वाले विभिन्न संकल्पों को रोककर उसे केन्द्र पर स्थिर रखने का अभ्यास करना पड़ता है। इस एकाग्रता को आगे बढ़ाते हुए चित्त को जाग्रत अवस्था में ही संकल्पपूर्वक लय कर देने का नाम समाधि है। इसके लिये प्रत्याहार, धारणा, ध्यान की भूमिकाएँ पार करनी पड़ती हैं। इन साधनाओं के द्वारा सचेतन बुद्धि संस्थान की चिंतन और संकल्प क्षमता को शिथिल करके वहाँ लगे हुए तेजस् को जब अचेतन के साथ जोड़ दिया जाता है तो उसकी वे दिव्य क्षमताएँ जाग्रत और सक्षम होना आरम्भ हो जाती हैं, जो अदभुत, अनुपम और चमत्कारी ही कही जा सकती हैं। इस दिशा में जो जितनी सफलता प्राप्त कर लेता है वह उतना ही समर्थ और सिद्ध पुरुष बन जाता है।

संक्षेप में यही है योग साधना का तत्वदर्शन-बौद्धिक चेतना पर नियंत्रण स्थापित करके अचेतन को दबाने से रोकना और उसे जाग्रत करना। इन प्रयोगों को यदि व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से किया जा सके तो निःसंदेह मनुष्य साधारण न रह कर असाधारण बन सकता है और वे विभूतियाँ अर्जित कर सकता है जो उसे अतीन्द्रिय ज्ञान संपन्न बना सकती हैं। ✳

ग्वालियर क्षेत्र के एक छोटे गाँव में जन्मी पद्मा के पिता सैनिक थे। मृत्यु के उपरान्त वे कर्ज चुकाने को छोड़ गये थे। परिवार के पालन का भी भार था।

किशोर पद्मा पुरुष का वेष बनाकर किसी प्रकार सेना में भर्ती हो गई और अपने कौशल से अपने समुदाय में अच्छी खासी धाक जमाली उसका पराक्रम और साहस देखते ही बनता था। मिलने वाले वेतन से उस ने सारा कर्ज चुका दिया।

किसी प्रकार रहस्य खुल गया। पूछने पर उसने सारी बात बता भी दी। विवाह योग्य हो गई। एक वरिष्ठ सैना अधिकारी के साथ उसका विवाह भी हो गया। विवाह के बाद भी वह अपने पति के साथ सैन्य कार्यों में रुचि बनाये रहीं और उस विभाग से संबंधित रहीं।

स्रष्टा के अनुदानों की उपेक्षा न हो

प्रगतिशीलता का तकाजा यह है कि वह अपनी उपलब्धियों का श्रेष्ठतम सदुपयोग करे । अभाव का चिन्तन करने और अपने से अधिक सुविधा सम्पन्न लोगों के साथ तुलना करते हुए अपने दुर्भाग्य को कोसा ही जा सकता है । दरिद्रता के लिए भाग्य को दोष दिया जा सकता है । पर यदि यह देखा जाय कि हमारे पास जो है, जितना है उतना भी असंख्यों को उपलब्ध नहीं है, तो हर कोई संतोष की सांस ले सकता है और अपने को आर्थिक दृष्टि से न सही अन्य अनेक क्षेत्रों में अपनी स्थिति को सराहनीय मान सकता है ।

मनुष्य जन्म अपने आप में एक विभूति है । करोड़ों की संख्या में पाई जाने वाली जीव प्रजातियों से यह धरती भरी पड़ी है, पर उनमें अकेला मनुष्य ही ऐसा है जिसे प्रकृति ने परमात्मा ने अपनी सर्वोत्तम कलाकृति के रूप में गढ़ा है । इतना सर्वांग सुन्दर उपयोगी और बहुमुखी क्षमताओं से परिपूर्ण शरीर और किसे मिला है ? चिन्तन की एक क्षमता और किस प्राणी को आती है ? आन्तरिक उल्लास और उत्साह किसके भीतर से फूटता है ? उचित अनुचित का विभेद करने वाली और औचित्य अपनाने की प्रेरणा किसके भीतर से उभरती है । यह अधिकार केवल मनुष्य को मिला है कि वह अपने भाग्य की संरचना मन चाहे ढंग से मन चाही दिशा में कर सके । ऐसी दशा में बुद्धिमान वे ही हैं, जो अकारण असंतोष की आग में नहीं जलते और गर्व गौरव अनुभव करते हैं कि हमें मनुष्य जीवन मिला ।

यह स्रष्टा का अनुग्रह है कि मनुष्य जन्म जैसा अनुपम उपहार मिला । अब अपनी बारी है कि उसका सदुपयोग करके दिखायें और उस प्रयास का हाथों-हाथ आनन्द उठाते हुए भविष्य को उज्ज्वल बनाये ।

स्रष्टा के प्रत्यक्ष अनुदानों में ही प्रमुख है एक समय, दूसरा श्रम । समय के छोटे-छोटे घटकों को मिला कर ही जीवन बना है । उसमें से एक तो ऐसे ही सोने में, नित्य कर्म में , आलस्य प्रमाद में खप जाता है पर जितना उपयोगी कार्य कर सकने की स्थिति में हैं, हम उसका भी एक बहुत छोटा अंश काम में ला पाते हैं । यदि उस जीवन सम्पदा के एक-एक क्षण का हिसाब लगाने की आदत हो तो पता चलेगा कि हम समय देवता की कितनी अवज्ञा उपेक्षा करते हैं और उसे किस प्रकार प्रमाद में ढील पोल बरतने में नष्ट कर देते हैं । यदि इसे सँभाला सँजोया गया होता तो निश्चय ही उतने भर से अपना ज्ञान बढ़ाने और व्यक्तित्व निखारने में कितनी सहायता मिल सकती थी ?

> *एक व्यक्ति घर के उत्तरदायित्वों और असफलताओं से घबरा कर साधु बाबा होने को उतारू हुआ । एक पहुँचे हुए महात्मा के पास पहुँचा कि उसे शिष्य बना लिया जाय ।*
>
> *गुरु ने उसके परिवार और उसके उत्तरदायित्वों के बारे में पूछा । मालूम हुआ कि उसके वृद्ध माता-पिता , अविवाहित छोटी बहनें पत्नी और दो बच्चे हैं ।*
>
> *साधु ने उसे सन्यासी बनाने से स्पष्ट इनकार कर दिया और कहा पहले परिवार का ऋण चुकाओ । बाद में सन्यासी बनने की बात सोचना । ऋण लेकर भागने वाले की जो निन्दा होती है जो लांछन लगते हैं उससे बचो ।*
>
> *व्यक्ति घर वापस लौट गया । साधु के बताये आधार पर गृह व्यवस्था को ही भगवत पूजा मानकर उस में तत्परतापूर्वक जुट गया ।*

दूसरी उपलब्धि है श्रम । श्रम का ही दूसरा नाम धन है । धन से सुविधा सामग्री उपलब्ध होती है और इसी आधार पर दूसरों की भी सहायता की जा सकती है । श्रम यों स्नायु संचालन और स्वेद बिंदुओं के रूप में दिखता है पर उसी का घनीभूत स्वरूप सम्पदा के रूप में परिणत होता है । आकाश से बरसने और जमीन फाड़कर निकल पड़ने के रूप में तो सम्पदा किन्हीं किन्हीं को ही मिलती है । पर उसमें गुणवत्ता नहीं होती वरन् ऐसी विषाक्तता रहती है कि जहाँ भी वह रुके वहीं तेजाब की तरह जला कर जर्जर

उत्पन्न कर दे। धन वही है जो श्रमपूर्वक नीतिपूर्वक कमाया गया हो। उसी के सहारे मनुष्य सुखी रहता और समुन्नत बनता है। किन्तु देखा गया है अधिकांश लोग अविवेकी और अदूरदर्शी होते हैं। समय और धन का अधिकांश भाग इस तरह खर्च करते रहते हैं जिससे प्रतिगामिता ही उपजती है और ऐसा ही कुछ बन पड़ता है जिसे मूर्खतापूर्ण कहा जा सके और अवसर निकल जाने पर पश्चाताप करना पड़े। वस्तुस्थिति का पता तब चलता है जब मरण का दिन आ पहुँचता है और बीते हुए का लेखा जोखा लेने पर अनुभव होता है कि बहुमूल्य विभूतियाँ व्यर्थ ही चली गईं। यदि उनका महामानवों की तरह उपयोग किया गया होता तो न केवल परिस्थितियाँ ही बदल जातीं वरन् ऐसा भी कुछ बन पड़ता जिस पर अपने को आत्म संतोष होता और दूसरों को अनुकरण करते हुए आगे बढ़ने का अवसर मिलता। शरीर न रहने पर भी यश बना रहता।

कठिनाई एक ही है कि समीक्षा बुद्धि पर सदा कुहासा छाया रहता है। वह दूसरे भर के लिए काम करती है पर जब आत्म निरीक्षण का अवसर आता है तो अपने को अयोग्य असमर्थ मान बैठती है। अपने सभी कृत्य उचित प्रतीत होते हैं, भले ही वे कितने ही अवाछनीय या अनुपयुक्त क्यों न हों।

अन्य प्रसंगों में भले ही भूल चूक होती रहे पर समय और श्रम (धन) के एक-एक छोटे घटक का हिसाब रखा जाना चाहिए। डायरी छपने, रखने और लिखने का यही उद्देश्य नहीं है कि उसमें किए गये उल्लेख के आधार पर महत्वपूर्ण निर्धारणों या कार्यों की स्मृति बनी रहे। वरन् यह भी है कि बही खाते की तरह समय और पैसे का हिसाब लिखा जाय। इस लेखन का उद्देश्य एक चिन्ह-पूजा से निपट लेना भर नहीं है। किन्तु यह है कि समीक्षा के लिए प्रमाणित तथ्य हस्तगत हो और एकाग्र चित्त से यह विचार करने का अवसर मिले कि इन दोनों विभूतियों का कितना सदुपयोग बन पड़ा? कितना दुरुपयोग और कितना व्यर्थ निरर्थक आलस्य प्रमाद में चला गया? जो कार्य जितने समय में हो सकता है उसे उतने से अधिक देर में अन्यमनस्कतापूर्वक बेगार भुगतते हुए अस्त-व्यस्त ढंग से किया जाय तो समझना चाहिए कि समय को काम में लगाये रहते हुए भी उसका वास्तविक लाभ आधा चौथाई ही हस्तगत हो सका।

यही बात धन के सम्बंध में भी है। अपव्यय समझ में नहीं आते। कई बार तो वे आवश्यकता जैसे प्रतीत होते हैं। पर विवेकशीलता यह बताती है कि दूसरों को फुसलाने की अपेक्षा यह पैसा यदि अमुक कार्य में लगा होता तो उससे अपना, परिवार का तथा समाज का कितना हित साधन बन पड़ा होता। सुधारने का समय तब आता है, जब भूल-भूल प्रतीत हो और अमुक कार्य करने की अपेक्षा अमुक कदम उठाने की बात सूझ पड़े। इसी पर्यवेक्षण में सहायता देने के लिए डायरी लिखी जाती है और उसमें समय तथा पैसे का राई रत्ती हिसाब अंकित किया जाता है।

जस्टिस रानाडे उच्चपद पर अवस्थित न्यायाधीश थे उनका विवाह बचपन में ही हो गया था। पत्नी कई वर्ष छोटी थीं। जब वे बड़ी हुईं और सुसराल गईं तो रानाडे ने उनकी शिक्षा को आगे बढ़ाने का कार्य हाथ में लिया उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने तक घरेलू झंझटों से बचाये रखा।

रानाडे ने अपनी पत्नी को सुशिक्षित बनने के उपरान्त समाजसेवा के कार्यों में लगने के लिए प्रोत्साहित किया और इस प्रकार के अवसरों को उनके लिए खोजा। रमाबाई के द्वारा समाज सेवा के इतने अधिक कार्य सम्पन्न हुए जिनकी प्रशंसा उनके पति के पद से किसी प्रकार कम न थी।

दोनों प्रसन्न थे कि दोनों ने एक दूसरे की सच्चे अर्थों में सेवा की और दाम्पत्य जीवन को सफल बनाया।

जीवन रूपी पुष्प समय और साधनों की छोटी-छोटी पंखुड़ियों से मिलकर बना है। उसकी शोभा इनके सही तरह से व्यवस्थित रहने एवं खिलने में ही है। यदि उन्हें कुचली मसली स्थिति में रहने दिया जाय या आलस्य प्रमाद के हाथों कुचल मसलकर फेंक दिया जाय तो समझना चाहिए कि ऐसी भूल चल पड़ी जिसके लिए भविष्य में पश्चाताप ही शेष रह जायेगा। ऐसी स्थिति न आने पाये इसलिए जीवन को अधिकतम उपयोगी जीने के इच्छुकों को डायरी रखनी तथा नियमित रूप से लिखनी चाहिए। साथ ही नियमित रूप से यह समीक्षा भी करनी चाहिए कि वर्तमान ढर्रे में भविष्य में क्या सुधार परिवर्तन किया जाना चाहिए? *

सम्पन्नता नहीं, महानता का वरण करें

हर प्रतिभावान व्यक्ति को अपना गौरव बढ़ाने, दिखाने की महत्वाकांक्षा होती है । प्राणी मात्र में पेट-प्रजनन की आकांक्षा पाई जाती है, पर मनुष्य की एक और उमंग है अपने को अन्यान्यों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ, वरिष्ठ सिद्ध करने की । इसको महत्वाकाँक्षा कहते हैं । हर प्राणवान व्यक्ति में महत्वाकाँक्षा पाई जाती है । ऐसे कम ही होते हैं जो पेट भरने, तन ढँकने भर से सन्तुष्ट हो जायँ । आत्म-प्रदर्शन के लिए कोई प्रयत्न न करें ।

तन ढकने के लिए कुछ गज कपड़ा लपेट लेने से काम चल सकता है, किन्तु देखा जाता है कि चित्र-विचित्र फैशन वाले कितने ही जोड़े नई-नई किस्म के सजाकर लोग तैयार रखते हैं और उन्हें अदलते-बदलते रहते हैं । महिलाएँ, सभी अंगों को जेवरों से सजाती हैं, केश विन्यास के अपने अनोखे तौर-तरीके हैं । इस सबका एक ही प्रयोजन है कि दूसरे लोगों का देखने के लिए आकर्षण बढ़े । उस आधार पर उस सजधज वाले को विशिष्ट स्तर का माना जाने लगे । स्वाभाविक सुन्दरता को कई गुना बढ़ाकर दिखाने के लिए कितने ही श्रृंगार साधन चेहरे से लेकर अन्य अंगों तक पोते जाते हैं । इस सम्बन्ध में महिलाएँ पुरुषों से कहीं आगे हैं । इस साज-सज्जा में कितना धन, कितना समय लगता है । फैशन पुराना पड़ने पर नया अपनाया जाता है ताकि जो विन्यास निगाह से उतर चुका, उसके स्थान पर नया धारण करने में लोगों की दृष्टि गढ़े । कलाकारिता और सम्पन्नता की चकाचौंध आँखों में गढ़े । यह उस मानसिक ललक का प्रतिफल है जो अपने को दूसरों से बढ़-चढ़कर प्रदर्शित करना चाहती है । सम्पन्न लोग आवश्यकता से अधिक बड़े मकान बनाते हैं । किले, बँगले कीमती साज-सज्जा से सजाये जाते हैं । वाहन, नौकर आदि आवश्यकता से अधिक संख्या में रखते हैं । प्रीतिभोज, जलपान आदि के ठाट आये दिन बनते हैं और भी कई प्रकार के खर्चीले व्यसन अपनाये जाते हैं । इन सबका कारण एक ही है कि उनका वैभव बढ़ा-चढ़ा माना जाय और उस आधार पर अपने को अन्यों की तुलना में सौभाग्यवान माना जाय । यह आडम्बर बड़प्पन की विडम्बना ही रचना है । यदि वह न होता तो थोड़े साधनों से काम चल सकता था । कम समय और कम धन खर्चने से काम चल सकता था । उस बचत को अन्य उपयोगी कामों में लगाया जा सकता था जिससे अपना या दूसरों का भला होता ।

प्रतिस्पर्धाओं के आयोजन आये दिन रचे जाते देखे जाते हैं । मोटर दौड़, घुड़ दौड़, पर्वतारोहण जैसे जोखिम भरे कामों में लोग इसलिए सम्मिलित होते हैं कि विजयी की साहसिकता चर्चा का विषय बने । अपने-अपने ढँग के कीर्तिमान स्थापित करने के लिए क्या-क्या कष्ट उठाते और दुस्साहस दिखाते हैं । इसकी चर्चा पत्रिकाओं में पढ़ी और शौक से सुनी जाती है । इन कार्यों में इतना साहस किसलिए दिखाया जाता है ? इतना धन और समय किसलिए खर्च किया जाता है ? इसका उत्तर एक ही है-बड़प्पन की महत्वाकाँक्षा जो वस्तुतः बड़े काम नहीं कर पाते वे झूठी प्रशंसा कराने के लिए चाटुकारों को खरीदते और उनके द्वारा प्रशंसा के पुल बाँधने वाले छद्म रचते हैं । कितने ही तो इसी बात की रोटी खाते हैं कि प्रसिद्धि के लोभियों को खुश करने के लिए तिल का ताड़ बनायें और नगाड़े बजायें । बहुधा युद्ध भी इसी निमित्त लड़े जाते थे । दास-दासियों के झुण्ड भी इसीलिए पाले जाते थे कि उनका बड़प्पन चर्चा का विषय बने । विवाह शादियों में भी इसी निमित्त बढ़-चढ़ कर धूमधाम जुटाई जाती थी । कुत्तों से लेकर शेर पालने तक का शौक इसीलिए अपनाया जाता था कि उनका नाम चर्चा का विषय बने ।

विचार करने पर प्रतीत होता है कि इस प्रकार के शौकीन अपनी अहंता भर का पोषण करते हैं । दूसरे उन्हें बड़ा मानने ऐसा होते नहीं देखा जाता । हर आदमी अपने कामों में व्यस्त है उसे ऐसी विडम्बनाएँ ध्यानपूर्वक देखने की फुरसत ही कहाँ होती है, फिर एक नहीं अनेकों ऐसे ही ढकोसले रचते हैं । उन्हें कौन भाग्यवान, श्रीमान मानता है ? उलटे यही कहा जाता

है कि बेइमानी की कमाई बेरहमी से उड़ाई जा रही है। ढकोसले खड़े करके झूठी वाहवाही लूटी जा रही है। असलियत देर तक छिपती कहाँ है ?

गरीबों द्वारा अमीरी का स्वांग बनाया जाना कितना बचकाना लगता है। धोबी से किराये पर कपड़े लेकर बारात में अकड़ते हुए चलना जानकारों की दृष्टि में कितना भोंड़ा लगता है। इसी कुचक्र में कितने ही लोग कर्जदार बन जाते हैं और बाप-दादों की संचित पूँजी स्वाहा कर बैठते हैं। कम आमदनी वाले पर अमीरी का ढकोसला बनाने का चस्का चढ़ता है तो उन्हें इसका जुगाड़ जुटाने के लिए अनीति पर उतरना पड़ता है। फिजूल खर्ची आदमी को ईमानदार नहीं रहने देती। गड्ढा भरने के लिए उन्हें कुकर्मों की राह अपनानी पड़ती है। ऐसे लोगों की वस्तुस्थिति प्रकट हुए बिना नहीं रहती। जो लोग वास्तविकता से परिचित होते जाते हैं वे सम्मान देने के स्थान पर घृणा करने लगते हैं। उनका साथी सहयोगी भी कोई नहीं रहता क्योंकि साथियों को भी ऐसे ही कुचक्रों में निरत मान लिया जाता है।

अमीरी का ढकोसला खड़ा करके बचकाने लोग बड़प्पन पाने का प्रयत्न करते हैं, पर उन्हें उसमें सफलता नहीं मिलती। ढोल की पोल खुले बिना नहीं रहती। कोई अनपढ़, विद्वान होने की डींग हाँके तो कुछ ही देर के वार्तालाप में कलई खुल जाती है, फिर अब अमीरी के आधार पर बड़प्पन का रौब जमाने का समय भी चला गया। कोई समय रहा होगा जब सामन्तों की तूती बोलती थी। उनके आतंक से भयभीत लोग लम्बा सलाम झुकाते थे, पर अब लोगों का साहस खुला है। निकृष्टता की घृणास्पद शब्दों में ही आलोचना की जाती है, साम्यवादी विचार धारा ने अमीरों के प्रति आक्रोश उत्पन्न किया है। उनकी कटु आलोचना भी होती है और खुले आम बेईमान बताया जाता है। कहा जाता है कि निष्ठुर ही धनवान बन सकते हैं अन्यथा यदि अधिक आमदनी थी तो उसे दूसरे जरूरतमंदों को दिया जाना चाहिए था। लोकोपयोगी कामों में लगाया जाना चाहिए था। जो उस ओर से मुँह फेरे रहते रहे और अपव्यय की आतिशबाजी जलाने में शान अनुभव करते हैं उन पर अनुपयुक्तता का लाँछन तो लगेगा ही। स्वार्थी एवं निष्ठुर भी कहा ही जायेगा।

विवेक बुद्धि ने बड़प्पन का ढकोसला रचने को बचकानापन कहकर अमान्य ठहरा दिया है। दूरदर्शिता और शालीनता का प्रतिपादन यह है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट आदर्शवादिता से सुसम्पन्न करे और अपने गुण, कर्म, स्वभाव में महानता का समावेश करे। प्रामाणिक बनकर रहे। दृष्टिकोण को ऊँचा रखे और उदारता बरते। सादा जीवन उच्च विचार की नीति अपनाये। औसत नागरिक स्तर का निर्वाह करे ताकि अधिक उपार्जन बन पड़ने पर बचत वाले साधनों को दूसरों की सेवा सहायता में लगा सके।

अमीरी की विडम्बना और फिजूल खर्ची की क्षुद्रता को जोड़कर बड़प्पन पाने की अभिलाषा पूरी करने के इच्छुकों को निराश ही होना पड़ता है। उत्पीड़न का आतंक भी किसी के मन में आदर भरा स्थान नहीं बना सकता। यह तो हो सकता है कि भीतर घोर घृणा भरी हो, पर लालच या भय से आक्रान्त होकर जीभ से प्रशंसा के शब्द निकलवा लिए जायँ, पर छद्म देर तक छिपा नहीं रहता। अवसर मिलते ही यथार्थता अपना स्वरूप प्रकट कर देती है। जो हेय है वह हेय ही रहेगा। तथ्यों को देर तक झुठलाया नहीं जा सकता। भ्रष्ट चरित्र और दुष्ट आचरण वाले न यशस्वी बन सकते हैं और न प्रतिष्ठा पा सकते हैं। इतना होते हुए भी लोग इसी राह पर चलते देखे गये हैं। अनेकों का चिन्तन अभी भी यही बना हुआ है कि पाखण्डों के सहारे वे बड़प्पन पा सकते हैं और उसे देर तक स्थिर रख सकते हैं। यदि यह भ्रान्ति मिट गई होती तो लोग बड़प्पन के स्थान पर महानता पसंद करते। सीधा और सरल मार्ग चुनते, वह प्राप्त

कुआँ पर रहट से पानी खींच कर खेत सींचा जाता था।

एक घुड़सवार उधर से निकला घोड़े को पानी पिलाना था। पर रहट की आवाज सुनकर घोड़ा बिदकता था सो सवार ने किसान से कहा। रहट की आवाज बन्द करो ताकि घोड़ा पानी पी सके।

किसान ने रहट बन्द किया तो कुआँ से पानी निकलना भी बन्द हो गया। घोड़ा पीता क्या ?

इस पर सवार ने कहा भाई मैंने तो रहट की आवाज बन्द करने को कहा था। तुमने तो पानी ही बन्द कर दिया।

किसान ने कहा रहट का आवाज करना, कुआँ से पानी निकलना दोनों साथ साथ जुड़े हुए हैं। आप ही घोड़े को सधाइये। लगाम पकड़ कर उसे काबू में लाइये। तभी आपका प्रयोजन पूरा होगा। अकेले मेरे प्रयत्न से ही आपकी इच्छा पूरी होजाये, यह संभव नहीं।

करते जिसे पाने की उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी। ओछे आधार अपनाकर बटोरा गया बड़प्पन तिनकों से बनाये गये महल की तरह हवा के एक ही झोंके में उड़कर कहीं से कहीं जा पहुँचता है।

महानता शाश्वत है और स्थिर भी। व्यक्तित्व को आदर्शों से ओत-प्रोत करके हर किसी की दृष्टि में प्रामाणिक बना जा सकता है। प्रामाणिकता ही मानवी गरिमा है इसके लिए गुण, कर्म, स्वभाव के चिन्तन, चरित्र और व्यवहार को ऐसा बनाना पड़ता है जो उत्कृष्टता की कसौटी पर खरा सिद्ध हो सके। यही वह विभूति है जिसके आधार पर आत्म संतोष, जन सम्मान, अजस्र सहयोग का प्रतिफल हाथों हाथ मिलता है। समझदारी तक का तकाजा एक ही है कि अपने क्रियाकृत्यों में ईमानदारी का समावेश रखा जाय। कर्तृत्वों के प्रति जिम्मेदारी निबाही जाय। प्रलोभनों और दबावों के आगे न झुकने का साहस दिखाया जाय।

व्यक्तिगत रूप से कोई धनवान, विद्वान, बलवान, प्रतिभावान, कला कुशल, चतुर आदि विशेषताओं से सम्पन्न हो सकता है। दूसरों की तुलना में अपने को अधिक शक्ति सामर्थ्य का धनी सिद्ध कर सकता है, पर साथ ही यह भी निश्चित है कि इन सम्पदाओं का दुरुपयोग बन पड़ने का खतरा भी बना ही रहेगा। साथ ही ईर्षालुओं के आघातों आक्रमणों की संभावना भी बनी रहेगी। चोर और आक्रमणकारी कुचक्री भी अपनी घात लगाते रहेंगे। चापलूसों, चाटुकारों द्वारा प्रशंसा का लालच दिखाकर हितैषी बनने और दल-दल में फँसा देने की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में आशंकाएँ, अशुभ संभावनाएँ बनी ही रहेंगी। उनके कारण चित्त पर उद्विग्नता भी चढ़ी ही रहेगी।

बड़प्पन के साथ जुड़े हुए खतरों को समझना चाहिए और अशान्त मनः स्थिति में जो दुर्गति होती है उसका भी ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार का कोई जोखिम महानता का मार्ग अपनाने में नहीं है। उसकी गरिमा अन्तःकरण को प्रसन्न और उल्लसित रखती है, साथ ही दूसरों का जो उपकार बन पड़ता है उसकी प्रतिक्रिया भी मंगलमय ही होती है। चरित्रनिष्ठा और लोकमंगल में संलग्नता इन दो आधारों को अपनाकर कोई भी व्यक्ति अपनी उत्कृष्टता के आधार पर सर्वसाधारण के सम्मुख ऐसे आदर्श प्रस्तुत कर सकता है जिनसे प्रेरणा पाकर उन्हें भी श्रेष्ठ सज्जन बनने का अवसर मिल सके।

आवश्यक नहीं कि महानता का मार्ग अपनाने के लिए धनवान या विद्वान बनना आवश्यक हो। इसके लिए चतुरता या समर्थता भी आवश्यक नहीं। सज्जनता की रीति-नीति अपनाना हर किसी के लिए हर परिस्थिति में संभव है। अन्तःकरण सद्भावना से उदारता से ओत-प्रोत हो तो सम्पर्क क्षेत्र में सेवा सहायता करने, उदारता बरतने के अवसर अनायास ही मिलते रहते हैं। श्रम, समय लगाकर भी सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए कुछ न कुछ करते रह सकना सुगम संभव हो सकता है। सज्जनता अपनाकर दूसरों के सामने यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि

एक करामाती साधु थे। वे नदी के किनारे रहते। नाव थी नहीं। जो पार होना चाहता उसे राम मंत्र देते और कहते इसे जपते हुए पार निकल जाना। श्रद्धालु भक्त उसी आधार पर पार होते रहते।

कुछ दूर पर नदी का दूसरा घाट था। उस पर एक मुसलमान फकीर रहता था। उसके पास भी मुरीद आते। वह सब को 'खुदा' मंत्र जपने के लिए कहता और साधु की भाँति ही पार लगा देता।

एक चतुर व्यक्ति था। उसे दोनों सन्तों के चमत्कार मालूम थे। उसने सोचा दोनों मंत्रों को सम्मिलित कर लेने से दूना फायदा हो सकता है। आधे समय में ही पार उतरा जा सकता है। यह सोच कर उसने राम खुदा का एक नया मंत्र गढ़ा और उसे कहते हुए पानी में घुसा तो डूब गया। उसे यह ध्यान ही न था कि श्रद्धा की अध्यात्म प्रयोजनों में प्रमुखता है। श्रद्धा डगमगाई तो फिर हाथ कुछ नहीं रहता।

मर्यादाओं का परिपालन, वर्जनाएँ न तोड़ने का अनुशासन पालने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। दूसरे लोग समुचित प्रत्युत्तर न दें तो भी अपनी ओर से एकांगी शालीनता बरती जा सकती है और वातावरण में उत्कृष्टता की सुगन्ध भरी जा सकती है। अपना कल्याण साधते हुए दूसरों को भी उसी दिशा में अग्रसर किया जा सकता है।

महत्वाकाँक्षाएँ तभी श्रेयस्कर हो सकती हैं जब उनके साथ पुण्य परमार्थ की भावना को सँजोये रखा जा सके। महानता के मार्ग पर हर कोई चल सकता है और सच्चे अर्थों में विभूतिवान, सौभाग्यवान बन सकता है। इसे मूर्खता ही कहना चाहिए कि लोग बड़प्पन की मृगतृष्णा में भटकें और महानता की उत्कृष्टता की उपेक्षा करें। *

मरण, एक बदलाव मात्र

मृत्यु का नाम सुनते ही समूचे अस्तित्व में कँपकँपी की लहर दौड़ जाती है । पर क्या इसलिए कि वह सचमुच ही डरावनी है ? हमें सिर्फ अविज्ञात से डर लगता है, अपरिचित के बारे में अनेकों आशंकाएँ घेरे रहती हैं । अनिश्चयभरी अविश्वस्त स्थिति ही डरावनी होती है । रात्रि के अन्धकार में डर लगता है पर किसका ? चोर का नहीं इस सुरक्षित स्थान पर उसकी पहुँच नहीं । सर्प का नहीं इस ऊँची अट्टालिका के संगमरमर से बने फर्श तक आ सकने का उसका कोई रास्ता नहीं । भूत का नहीं वह तो भ्रम मात्र है, उसके अस्तित्व पर कोई भरोसा नहीं । फिर वही सवाल अँधेरा क्यों डरा रहा है ? सुनसान में सिहरन क्यों हो रही है ? निश्चय ही यह अनिश्चय की स्थिति है जो अपरिचित से डरने को बाध्य करती है । अपरिचित अर्थात् अज्ञात । सचमुच अज्ञान सबसे अधिक डरावना है । मौत अज्ञान की छाया मात्र है ।

एक गड़रिया राजकीय सम्मान के लिए सिपाहियों द्वारा राजदरबार में उपस्थित किया गया । वह बुरी तरह काँप रहा था । भय था कि न जाने उसका क्या होगा, पर जब उसे सम्मानित किया गया उपहारों से उसे लाद दिया गया तब वह सोचने लगा मैं व्यर्थ ही थर-थर काँपता रहा अपना खून सुखाता रहा ।

डरावनी मृत्यु आखिर है क्या ? तनिक समझने की कोशिश करें तो मालुम पड़ेगा और कुछ नहीं तनिक विश्रान्ति भर है । अनवरत यात्रा करते-करते जब थक कर चेतना चूर हो जाती है, तब वह विश्रान्ति चाहती है । नियति उसकी अभिलाषापूर्ण करने की व्यवस्था बनाती है । थकान को नवीन स्फूर्ति में बदलने वाले कुछ विश्राम के क्षण वस्तुतः बड़े मधुर और सुखद होते हैं । क्या उन्हें दुखद दुर्भाग्य माना जाय ?

सूर्य प्रति दिन अस्त होता है, पर वह किसी दिन मरता नहीं है । अस्त होते समय विदाई की 'अलविदा' मन को भारी अवश्य करती है, पर यह मान कर सन्तोष कर लिया जाता है कि कुछ समय बाद उल्लास भरे प्रभात का अभिनन्दन प्रस्तुत होगा ।

पके फल को प्रकृति उस पेड़ से उतार लेती है । इसलिए कि उसका परिपुष्ट बीज अन्यत्र उगे और नये वृक्ष के रूप में स्वतन्त्र भूमिका सम्पादन करे । क्या वृक्ष से अलग होते समय वियोग की-बधू के पतिगृह में प्रवेश की तैयारी नहीं है ? क्या बिछुड़न की व्यथा में मिलन की सुखद संवेदना छिपी नहीं होती । इन विदाई के क्षणों को दुर्भाग्य कहें या सौभाग्य ? मृत्यु को अभिशाप कहें या वरदान ? इसका निर्णय करने के लिए गहरे चिन्तन की आवश्यकता है ।

मरण के कन्धों पर बैठकर हम पड़ोस की हाट देखने भर जाते हैं और शाम तक घूम-फिर कर घर आ जाते हैं मृत्यु के बाद भी हमें इसी नीले आसमान की चादर के नीचे रहना है । अपनी परिचित धूप और चाँदनी से कभी वियोग नहीं हो सकता । जो हवा चिरकाल से गति देती रही है उसका सान्निध्य पीछे भी मिलता रहेगा । दृश्य पदार्थ और सम्बन्धी अदृश्य बन जाएँगे इतने भर से क्या हुआ ? दृश्य भोजन उदरस्थ होकर अदृश्य उर्जा का रूप ले लेता है इसमें घाटा क्या रहा ? सम्बन्धियों की सद्भावना और अपनी शुभेच्छा का आदान-प्रदान जब बना ही रहने वाला है तो सम्बन्ध टूटा कहाँ ? इस परिवर्तन भरे विश्व में जीवन का स्वरूप भी तो बदलना चाहिए । ज्वार-भाटे की तरह जीवन और मरण के विशाल समुद्र में हम सब प्राणी क्रीड़ा कल्लोल कर रहे हैं । इस हास्य को रुदन क्यों माना जाय ?

दार्शनिक च्युअंगली की धर्मपत्नी मर गई । विद्वान हुईत्से संवेदना प्रकट करने आये ।

वे आश्चर्य से दंग रह गये । अपनी प्यारी पत्नी के मरने पर भी च्युअंगली बाजा बजाते हुए गीत गा रहे थे ।

अवाक हुईत्से का समाधान करते हुए च्युअंगली ने कहा "ऋतुएँ बदलती रहती हैं अपनी पत्नी के परिवर्तन की शुभ बेला में मैं उसे गाना गाकर क्यों न सुनाऊँ ।"

श्मशान को देखकर घबराने की जरूरत नहीं । यह नव जीवन का उद्यान है । उसमें सोई आत्माएँ मधुर सपने सँजो रही हैं ताकि विगत की अपेक्षा आगत को अधिक समुन्नत बना सकें । डरें नहीं । मरण अस्तित्व की समाप्ति नहीं सिर्फ आवरण का बदलाव भर है । जब हमें परिवर्तन सदा से रुचिकर लगा है तब रुचिकर के आगमन पर रुदन क्यों ?

*

धर्म के शाश्वत स्वरूप को समझे बिना गति नहीं

विघटन एवं विनाश के कगार पर खड़ी मानव जाति को आज धर्म की धर्माचरण की अत्यधिक आवश्यकता है । एक मात्र यही वह शाश्वत सत्ता है जो संसार का कल्याण करने में सक्षम है । पर यह धर्म इस महान लक्ष्य की आपूर्ति तभी कर सकता है जब वह साम्प्रदायिकता की संकीर्ण परिधि से बाहर निकले और स्वस्थ तथा समग्र रूप में प्रस्तुत हो । इसके लिए धर्म के सही स्वरूप को समझना आवश्यक है ।

महाभारत में धर्म शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धातु से बतायी गयी है । 'धृ' का अर्थ होता है धारणा करना । 'धर्म' शब्द अपने स्वरूप और लक्ष्य को स्वयं स्पष्ट करता है । धर्म से तात्पर्य है वह वस्तु जो समस्त विश्व को धारण कर रही है अर्थात् धर्म समस्त संसार का मूल आधार और समाज की एकता को मूर्तिमान् करने वाला एक सशक्त माध्यम है । इसके सही स्वरूप को जन सामान्य की दृष्टि में और भी बोधगम्य बनाने के लिए महाभारत तथा श्रीमद्‌भागवत पुराण में धर्म की पत्नियों की संख्या बतायी गयी है । यह अलंकारिक वर्णन है जो धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करता है । महाभारत के अनुसार कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा तथा मति धर्म की पत्नियों के नाम हैं । इस अलंकारिक वर्णन के पीछे शास्त्रकार का भाव यह है कि इनके बिना धर्म अपूर्ण है । इन्हें इसकी वे शाश्वत विशेषताएँ कहा जा सकता है जो प्राण के रूप में सभी धर्मों में शब्दान्तर से किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं । ये धर्म की अपरिवर्तनीय विशेषतायें हैं । इनके अभाव में धर्म को मात्र कर्मकाण्डों का कलेवर का समुच्चय समझ लिया जाता है ।

बौद्ध भिक्षु यू. थित्तिल ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह एक शाश्वत सत्ता तथा विश्व का प्राण है । इसे समस्त संसार को परिचालित करने वाला सिद्धान्तों का ऐसा समुच्चय समझा जा सकता है जिससे प्राणि मात्र का कल्याण सन्निहित है । वे अपनी पुस्तक "दी पाथ आफ बुद्धा" में लिखते हैं कि सूर्य, चन्द्र, पुष्प, पवन, पर्वत, सरिता, पावक, अन्न आदि सभी अपना-अपना धर्म निभा रहे हैं । इसीलिए जीवन चल रहा है तथा जगत स्थित है । जिस दिन सूर्य अपना कार्य न करेगा, अग्नि अपना दाहक धर्म खो देगी, उस दिन विश्व का अस्तित्व समाप्त हो जायगा । मनुष्य जीवन में धर्म का अवतरण भी इसी प्रकार होना चाहिए जो समस्त विश्व को अपने भीतर समाहित कर ले ।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म का अर्थ है आत्मा को आत्मा के रूप में उपलब्ध करना, हृदय के अंतर्तम प्रदेश में प्रविष्ट कर ईश्वर का-सत्य-का संस्पर्श प्राप्त करना , तत्व की प्रतीति करना-उपलब्धि करना, कि मैं आत्मा स्वरूप हूँ और अनन्त परमात्मा एवं उसके अनेक अच्छे अवतारों से मेरा युग-युग का अविच्छिन्न सम्बन्ध है । गिरजा, मन्दिर, मस्जिद, मत-मतान्तर विविध अनुष्ठान आदि तो पौधे की रक्षा के लिए लगाये गये घेरे के समान हैं । यदि आगे बढ़ना है, आत्मिक प्रगति करनी है तो अन्त में इस घेरे को हटाना ही पड़ेगा । धर्म न तो सिद्धान्तों की थोथी बकवास है, न मतमतान्तरों का प्रतिपादन और खण्डन है और न ही बौद्धिक सहमति है । इसी प्रकार धर्म न तो शब्द होता है, न नाम और सम्प्रदाय, वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति । जिन्हें अनुभव हुआ वे ही इसे समझ सकते हैं । जिन्होंने धर्म लाभ कर लिया है वे ही मनुष्य जाति के श्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं वे ही ज्योति की शक्ति हैं । धर्म के नाम पर होने वाले सभी प्रकार के झगड़े-झंझटों से केवल यही प्रकट होता है कि आध्यात्मिकता का मर्म समझ में आया नहीं है ।

मनीषियों ने धर्म के दो भाग बताये हैं पहला कलेवर, दूसरा प्राण । कलेवर समय-समय पर आवश्यकता के अनुरूप बदलता रहता है, पर प्राण की सत्ता सदा एक जैसी रहती है । प्राण धर्म के वे शाश्वत सिद्धान्त हैं जिन पर देश, काल की परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वे सदा एक जैसे बने रहते हैं । धर्म का अस्तित्व इस प्राण सत्ता पर ही टिका हुआ है, जब कि कलेवर परिवर्तनशील है और समय-समय पर उनमें सुधार एवं परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है । कहना न होगा कि प्रत्येक धर्म का साम्प्रदायिक कलेवर उनके विकास के अनुसार विविध रूपों में दृष्टिगोचर होता है । हिन्दू,

मुस्लिम, ईसाई, पारसी बौद्ध, सिक्ख, ताओ शिन्तो आदि विभिन्न परिस्थितियों में जन्मे और विकसित हुए हैं। प्रत्येक की अपनी महत्ता और उपयोगिता है। पर कब ? जब कि वे धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें तथा मनुष्य जीवन के प्रमुख लक्ष्य की ओर उन्मुख रहें। लक्ष्य और सिद्धान्तों को भुला देने से तो वे परस्पर मतभेदों को ही जन्म देते हैं। अतः किसी भी धर्म की महत्ता एवं सार्थकता इसी बात में सन्निहित है कि वह मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापना में कितना अधिक सहयोग देता है। वह मनुष्य जाति को कितना अधिक एक दूसरे के नजदीक लाता तथा आपसी स्नेह सौहार्द्र विकसित करता है।

इसे दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि आज समाज में बहुतायत उन व्यक्तियों की है जो धर्म के वास्तविक स्वरूप और लक्ष्य से अपरिचित हैं। वे प्रायः सम्प्रदाय रूपी कलेवरों को ही धर्म का यथार्थ स्वरूप समझते हैं। फलतः वे जिन क्रियाकृत्यों को ग्रहण करते हैं उन्हीं तक सीमित रह जाते हैं और रुढ़िग्रस्त होकर धर्म के लक्ष्य से भटक जाते हैं। कभी-कभी धर्म-सम्प्रदायों को लेकर जो मतभेद होते हैं अर्थात् संघर्ष उठते हैं, यदि उनकी मीमांसा विवेकपूर्ण ढंग से की जाय तो स्पष्ट होगा कि वे झगड़े रुढ़िग्रस्तता एवं अदूरदर्शिता के कारण ही होते हैं। धर्म का प्राण विवेक है जो मनुष्य की अदूरदर्शिता को दूर करना और उसे गगन की तरह अनन्त तथा उदार बनाना चाहता है। पर यह तभी संभव है जब धर्म के प्राणतत्व का अवलम्बन लिया जाय तथा साम्प्रदायिकता की संकीर्णता से निकला जाय।

सभी मत और सम्प्रदाय मनुष्य के अपने हैं और सभी भव्य हैं। वे सभी मनुष्यों को धर्मोन्मुख करने में जब तक सहायक हैं तभी तक उनकी सार्थकता है। इनकी उपयोगिता को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि किसी सम्प्रदाय की छाया में पैदा होना अच्छा तो है, पर उसकी सीमाओं में ही आबद्ध रह जाना, मर जाना, बहुत बुरा है। हमें या तो सम्प्रदाय को इतना विस्तृत बनाना होगा कि उसकी परिधि में समस्त संसार आ जाय। यदि ऐसा संभव नहीं होता तो स्वयं को साम्प्रदायिक संकीर्ण सीमा से बाहर निकलना होगा। मानव जाति का कल्याण धर्म के प्राणतत्व के अवलम्बन से ही संभव हं।

महात्मा गाँधी का कहना है कि धर्म कुछ संकुचित संप्रदाय का पर्याय भर नहीं है। विशाल, व्यापक धर्म है। ईश्वरत्व के विषय में हमारी अचल श्रद्धा, पुनर्जीवन में आस्था, सत्य और अहिंसा में सम्पूर्ण निष्ठा। इसमें असहिष्णुता को अवकाश नहीं है। मूल धर्म वह उच्चस्तरीय सत्ता है जो मनुष्य के स्वभाव तक में परिवर्तन कर देता है। जो हमें अन्तर के सत्य से अटूट रूप से बाँध देता है और जो निरन्तर अधिक शुद्ध और पवित्र बनाता रहता है। वह मनुष्य की प्रकृति का स्थायी तत्व है जो अपनी संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है और उसे तब तक बेचैन बनाये रखता है जब तक उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता। अपने स्रष्टा का ज्ञान नहीं हो जाता तथा रचयिता के और अपने बीच का सच्चा सम्बन्ध समझ में नहीं आ जाता। जो व्यवहार में काम आये और अहिंसा की कसौटी पर खरा उतरे, वही धर्म है।

पाश्चात्य मनीषी बाल्टेयर ने "थीस्ट" नामक अपने एक निबन्ध में धर्म के स्वरूप पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि "धर्मपरायणता का अर्थ है एक ईश्वरीय सत्ता में विश्वास। ऐसा विश्वास जो मनुष्य ही नहीं हर प्राणी के प्रति प्रेम और आत्मीयता की भावना उभारता हो-संसार को एकता के सूत्र में आबद्ध करता हो। सच्चा धार्मिक रुढ़िगत धार्मिक व्यापारों से अपने को मुक्त रखता है। वह एक ऐसी अव्यक्त भाषा बोलता है जिसे संसार का हर व्यक्ति समझ सकता है : यह वाणी उसके अंतःकरण से भाव संवेदनाओं के रूप में प्रस्फुटित होती है। विश्व उसका परिवार और प्रत्येक मनुष्य उसका अपना बन्धु होता है। सबका कल्याण करना ही उसकी पूजा बन जाती है। धर्म का जीवन में सही अर्थों में अवतरण ऐसी ही अनुभूति कराता है।

प्रकृति के सिद्धान्तों की एकरूपता का प्रतिपादन सभी वैज्ञानिक करते हैं, चाहे वे पूरब के हों अथवा पश्चिम के। सिद्धान्तों में मतभेद होने से तो विज्ञान की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जायेगी। एकता, समता, शुचिता, सहकारिता, सहिष्णुता धर्म का लक्ष्य है। इस एकत्व का प्रतिपादन एवं परिपालन प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय को न केवल सैद्धान्तिक रूप से वरन् व्यवहार द्वारा भी प्रस्तुत करना होगा। धर्म की महान गरिमा इसी तथ्य पर अवलम्बित है। धर्म का सही स्वरूप समझने और शाश्वत सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन में उतारने पर ही मनुष्य जाति का भविष्य सुरक्षित रह सकेगा। उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला इन्हीं तथ्यों पर अवलम्बित है। ✱

भाव के भूखे हैं भगवान

"प्रिये ! आज चौथा दिन है, किन्तु मैं कविता की एक पंक्ति के अन्तिम चरण को पूरा कर नहीं पा रहा हूँ । मेरे चिन्तन को हो क्या गया है ! मेरी कल्पना अवरुद्ध क्यों हो गई है ? विचारणा में वह प्रवाह क्यों नहीं आ पा रहा है , जो कुछ दिन पूर्व था ? बड़ी अजीब बात है ! अन्तिम पद को मैं बिल्कुल सोच ही नहीं पा रहा हूँ । इसीलिए "गीत गोविन्द" की समाप्ति में विलम्ब हो रहा है और यही सोच-सोच कर मैं परेशान हो रहा हूँ ।"

"इसमें परेशान होने की क्या बात है आर्य !" पत्नी पद्मावती का सम्बोधन था-" आप अपने कृष्ण कन्हैया से क्यों नहीं कहते, वह तो पूरा करा ही देंगे । उनके लिए तो यह बायें हाथ का खेल है । आप ही ने तो कल एक पंक्ति सुनायी थी । वह पंक्ति ....हाँ, याद आ गई 'सुकरं ते किमित्परि,' अर्थात् 'उसके लिए ' तो सब कुछ संभव है, दुष्कर नाम की चीज तो उसके कोश में है ही नहीं । तनिक मुसकराते हुए पद्मावती ने कहा ।

"तुम भी खूब ठिठोली कर लेती हो !"

"ठिठोली नहीं देव ! मैं तो सिर्फ यह बताना चाहती थी कि आज आप ऐसे चिन्तन में निमग्न हो गये हैं कि सुध-बुध ही खो बैठे ।"

"सुध खो बैठा !" -आश्चर्य प्रकट करते हुए जयदेव बोले "तुम कहना क्या चाहती हो देवि !"

"तनिक पूर्व दिशा की ओर आँखें उठा कर तो देखिए । अभी पता चल जायेगा ।"

"ओह ! सचमुच आज मुझे होश न रहा । भुवन-भास्कर इतने ऊपर चढ़ आये और पता तक न चला । अच्छा किया बता दिया , अन्यथा आज मेरे गोविन्द को देर तक भूखा रहना पड़ता ।"

"पद्मे !" "हाँ, देव !"

"तनिक मेरी धोती अंगोछा तो देना । मैं जल्दी से गंगा स्नान कर आऊँ, फिर गोविन्द के वन्दन-अभिनन्दन व भोग लगा कर भोजन विश्राम के पश्चात् उस श्लोक पर पुनः चिन्तन करूँगा ।"

"हो सके तो तुम भी, सोचना, ताकि मुझे कुछ सहायता मिल सके । श्लोक का प्रथम चरण है-'स्मरगरल खण्डनं मम शिरसि मण्डनम् -'

इतना कह कर जयदेव तेजी से गंगा नदी की ओर चल पड़े । किन्तु अभी कुछ ही क्षण बीते होंगे कि वह पुनः लौट आये ।

"पद्मे ! पद्मे !! "-तेज आवाज लगायी ।

"आयी देव ! " प्रत्युत्तर में मढ़ैया के अन्दर से स्वर उभरा ।

"यह क्या !" विस्मय में भर कर भार्या ने कहा-"आप बिना स्नान किये लौट आये !"

"हाँ, देवि !" रास्ते मे ही श्लोक का अन्तिम चरण स्मरण हो आया, इसलिए कहीं भूल न जाऊँ यह सोच कर लौट आया थोड़ा 'गीत-गोविन्द' तो देना । उसे पूरा कर लूँ, फिर स्नान और पूजन-भजन के उपरान्त अपने आराध्य का भोग ग्रहण करूँ ।।

पद्मावती 'गीत-गोविन्द' उठा लायी, जिसे जयदेव ने इस प्रकार पूरा किया --

'देहि में पदपल्लवमुदारम्'

फिर स्नान, भजन, पूजनादि, से निवृत होकर भगवान का भोग ग्रहण किया और चारपाई पर विश्राम करने लगे ।

पद्मावती पत्तल में बचा भोजन ग्रहण करने लगी, तभी उसने आश्चर्य से देखा कि जयदेव गंगा-स्नान से लौट रहे हैं उन्हें पत्नी के इस विचित्र आचरण पर बड़ा आश्चर्य है। आते ही वे बोले "यह क्या पद्मे ! आज भगवान का भोग लगाये और हमें खिलाये बिना अन्न कैसे ग्रहण कर रही हो ?"

पत्नी को भी अचम्भा हुआ । सोचने लगी आखिर यह सब हो क्या रहा है ? कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ .....। इन्हीं चिन्तनों में खोयी वह पतिदेव की उपस्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ हो गयीं । पति के प्रश्न का जवाब देने के बजाय उसकी संज्ञा-शून्य जैसी स्थिति बन गयी ।

तभी "पद्मे ! पद्मे !!" कह कर जयदेव ने उसे झकझोरा । अब उसकी तन्द्रा टूटी ।

उसने अचकचा कर कहा-"आर्य ! यह मैं क्या

सुन रही हूँ ! आज आपको हो क्या गया है ! आश्चर्य में विनोद का पुट भरती हुई पद्मावती बोली "कहीं ऐसा तो नहीं, भोजन स्वल्प लेने के कारण भूख आज जल्दी ही उद्दीप्त हो उठी हो और आपने इसी कारण ऐसा करने का उपक्रम किया हो वैसे अभिनय सशक्त रहा, इसमें दो मत नहीं हैं।"

"यह क्या कह रही हो तुम ?" विस्फारित नेत्रों से पद्मे को देखते हुए जयदेव बोले'।

"हाँ, ठीक ही तो कह रही हूँ।" पद्मा के 'सस्मित वदन' में आँखें कुछ विनोदपूर्ण मुद्रा में अठखेलियाँ कर रही थीं।

जयदेव तनिक गंभीर होते हुए बोले "मैं तो अभी-अभी गंगा-स्नान कर आ ही रहा हूँ और तुम बोल रही हो कि मैंने भजन, पूजन और भोजन भी कर लिया। लगता है तुम आज गोविन्द के भाव में कुछ अधिक ही बह गई हो।"

अब पद्मावती की आँखें खुलीं। उसने हास-परिहास की मानसिकता त्याग विस्मय में पड़ कर कहा-"तो क्या देव ! सब कुछ सच कह रहे हैं !"

"हाँ !" उत्तर मिला।

"किन्तु गंगा-स्नान के लिए निकलने के कुछ ही क्षण बाद लौट कर आपने तो कहा था कि आपको 'गीत-गोविन्द' की अन्तिम पंक्ति याद आ गई, इसलिए रास्ते से ही लौट आये एवं मैंने आपको गीत-गोविन्द लाकर दिया और आपने उसे पूरा कर डाला। फिर स्नानादि कर भोग ग्रहण किया और कक्ष में जा कर विश्राम करने हेतु चारपाई पर लेट गये।"

जयदेव यह सब सुनकर सकते में आ गये। कुछ क्षण खड़े-खड़े यत्किंचित सोचते रहे, फिर कुटिया के उस भाग में गये, जहाँ वे प्रायः विश्राम करते थे। चारपाई को टटोल-टटोल कर भली-भाँति देखा, वह खाली पड़ी हुई थी।

अब रहस्य उनकी समझ में आ गया कि आज अवश्य ही माधव की कृपा हुई है और उनके चरण-कमल मढ़ैया की धूल को पवित्र कर गये हैं, वे मुसकराते हुए पत्नी के पास आये और बोले "अच्छा पद्मे ! थोड़ा गीत-गोविन्द तो लाना। देखूँ, अन्तिम चरण की पूर्ति कैसे हुई है।"

पद्मावती ग्रन्थ ले आयी। जयदेव ने जब श्लोक का अन्तिम पद पढ़ा, तो उनकी प्रसन्नता का चूड़ान्त न रहा। प्रेमाश्रु झर-झर उनकी आँखों से झरने लगे। वे नाचते हुए प्रेम में उन्मत्त भार्या के पास पहुँचे और सब कुछ कह सुनाया। इतना सुनना था कि पद्मा के नेत्रों से भी अविरल प्रवाह बह निकला। दोनों भाव विह्वल हो उठे। जयदेव माधव का बचा भोजन पत्तल से उठा-उठा कर प्रसाद मान खाने लगे। पत्नी ने लाख मना किया कि यह उसका उच्छिष्ट है, इसे न खायें, पर उसकी एक न सुनी और भाव के अतिरेक में पत्नी का जूठन और श्रीकृष्ण का प्रसाद वे ग्रहण करते चले गये। इस बीच दोनों की आँखें अजस्र रूप से बहती चली जा रही थीं।

जब प्रसाद समाप्त हुआ, तो दोनों ने प्रेमाश्रु से राधा-माधव की प्रतिमा को स्नान करा दिया। भाव जब कुछ कम हुआ तो दम्पत्ति द्वय पंच-प्रतिष्ठित मुद्रा में विग्रह के सामने न जाने कितनी देर तक सिर टिकाये पड़े रहे।

जब शब्दों को अभिव्यंजना नहीं मिलती, तो वह प्रेमाश्रु बन कर बह निकलते और उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। आज कवि जयदेव और उनकी पतिव्रता के साथ ऐसा ही कुछ घटित हुआ था।

शाम में जब उनकी मूर्छना टूटी, तो नीरवता को चीरते हुए दो वर्ण उभरे-

"तात !" स्वर पद्मावती का था।

"हाँ, भार्ये !" प्रत्युत्तर मिला।

"मेरे मन में एक जिज्ञासा उठ रही है। क्या आप उसका समाधान करेंगे ?"

"अवश्य" संक्षिप्त-सा उत्तर था।

पद्मावती ने शंका प्रकट की-

"इन दिनों लोग कहते सुने जाते हैं, कि उनने कितनी ही मनौतियाँ मनायीं, रोये गिड़गिड़ाये, मनुहार किया, किन्तु भगवान के दर्शन-स्पर्शन की बात तो दूर, उनकी विपदा तक कम न हुई। आखिर यह विरोधाभास क्यों ?"

जयदेव तनिक हँसे, कहा "प्रिये ! भगवान सेवा कराने नहीं, करने आते हैं। जहाँ सेवा के हाथ और परोपकार के पैर ही उठने बन्द हो गये हों, जिनके हृदय की करुणा मरुस्थल की मृत्तिका की भाँति सूख गई हो, भला उन घरों में उनके चरण क्यों कर पड़ने लगे। वह तो सच्चे भाव के भूखे हैं, आहार-मनुहार के नहीं। जहाँ यह सब तत्व इकट्ठे होंगे, वहाँ उनका अनुग्रह कदापि असंभव हो ही नहीं सकता।" पद्मावती का समाधान हो चुका था।

*

सिद्धियाँ पवित्र अंतःकरण में जन्मती हैं

अध्यात्म में जिन तत्वों को प्रधानता दी जाती है वह हैं अन्तःकरण की पवित्रता और मन की एकाग्रता। सही कहा जाय तो दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इतने पर भी श्रेष्ठ और सर्वोपरि "पवित्रता" ही है। इसे अध्यात्म का पर्याय भी कहा जा सकता है। यही वह आधार है जिस पर एकाग्रता फलती फूलती है। इसके बिना यह केवल बाजीगरीभर रह जाती है।

आध्यत्मिक साधनाओं में निरत होने वाले अधिकांश लोग यह चीज भुला बैठते हैं। उनमें से ज्यादातर तरह-तरह की मानसिक कल्पनाओं को हथिया लेने के दिवा स्वप्न देखा करते हैं। कोई आकाशगमन की सिद्धि पाकर किसी अनजाने लोक की सैर करना चाहता है। किसी की इच्छा घर बैठे दूर की बात सुनने देखने की रहती है। प्रायः सभी व्यक्ति आध्यात्मिक साधनाओं को ऐसी किसी जादू की छड़ी के पाने का साधन मानते हैं, जिसे घुमाकर कुछ अद्भुत, अलौकिक आश्चर्यजनक पाया जा सके।दूसरों पर रौब गाँठा जा सके। जब मन आया तो अगत्स्य की तरह शाप देकर समुद्र सुखा दिया। जब मनमर्जी हुई तो विश्वामित्र की तरह इन्द्र को धमकाकर बरसात करवा दी।

क्या अध्यात्म सचमुच ही ऐसा है? जैसा उपरोक्त मान्यताएँ, प्रदर्शित करती हैं। इस सवाल पर प्राचीन काल के ऋषियों, मध्य युगीन संतों तथा आधुनिक महापुरुषों ने भली प्रकार विचार किया है। यही कारण है कि बुद्ध, महावीर, पातंजलि, कृष्ण सभी ने मानसिक एकाग्रता साधने के पहले पवित्रता अर्जित करने पर बल दिया है। बुद्ध महावीर जहाँ अहिंसा सत्य आदि का ठीक-ठीक ढंग से पालन कर अंतराल को पवित्र करने पर बल देते हैं वहीं पातंजलि यम और नियम को योग की आधार भूमि मानते हैं।

यम का मतलब है-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मवर्चस् व अपरिग्रह का पालन। इसी तरह नियम का तात्पर्य है-शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और भगवत्समर्पण। इन सभी अंग-उपांगों का एक ही उद्देश्य है अन्तराल की पवित्रता। गीताकार ने इसी को अर्जित करने हेतु मानसिक द्वन्द्वों से छुटकारा पाने और सभी से आत्म भाव स्थापित करने की बात कही है। योग पद्धतियों में मौलिक सामंजस्य स्थापित करने वाले श्री अरविन्द का "सिंथेसिस ऑफ योग" में कहना है कि योग की राह पर चलने के लिए जरूरी है अन्तःकरण को पवित्र बनाना। बिना इसके इस कठिन रास्ते पर नहीं चला जा सकता।

इन अनुभवी महामानवों की चेतावनी के बाद भी अधिकतर अपनी साधना की शुरूआत ध्यान से करना चाहते हैं। ऐसा करने में उनको कहीं अधिक श्रेष्ठता और गौरव की अनुभूति होती है। पर सवाल यह है कि यदि पिछले छः अंगों की जरूरत न होती तो सूत्रकार इसे क्यों बताते। सही कहा जाय तो ऐसे लोगों का लक्ष्य जीवन को संवारना नहीं बल्कि मानसिक शक्तियों पर अधिकार पाना है। यही कारण है कि वे देर-सबेर अध्यात्म मार्ग से भटक जाते हैं।

मानसिक एकाग्रता से शक्तियाँ तो जरूर मिलती हैं। पर जहाँ पवित्र हृदय वाला व्यक्ति उनकी ओर ध्यान नहीं देता, अपने ध्येय में जुटा रहता है। वहाँ अपवित्र हृदय वाले उनका उलटा सीधा उपयोग करने लगते हैं। उनके लिये इन शक्तियों सिद्धियों का मिलना बन्दर के हाथ में तलवार जैसा है जो अपना गला स्वयं ही काट लेता है। इसी प्रकार इनकी जग हँसाई होती है और नष्ट भी हो जाते हैं।

रशियन गुह्यवेत्ता रासपुतिन ठीक ऐसा ही व्यक्ति था। उसने पवित्रता अर्जित करने की परवाह किए बिना तरह-तरह की साधनाएँ कीं। ठेठ तिब्बत तक खोज बीन की। पूर्व में प्रचलित एकाग्रता की अधिकांश साधनाओं को आत्मसात किया। इस सम्बन्ध में उसकी साधना को गुरजिएफ व रमण से कम नहीं कहा जा सकता। पर अन्तःकरण की शुद्धि के अभाव के कारण उसने सारे काम गलत किए। जार तथा उसकी पत्नी को भी प्रभावित किया। किन्तु गलत कामों के कारण उसे जहर दिया गया, गोलियाँ मारी गई। गले में पत्थर बाँध कर बोल्गा में फेंका गया। उसका अन्त दुर्गति एवम् असम्मान से हुआ। जबकि

रमण व गुरजिएफ अपनी पवित्रता के कारण जन–जन के श्रद्धा भाजन बने ।

यही कारण है ऋषि सन्त सभी एक स्वर से शरीर शुद्धि, मानसिक शुद्धि, आचरण व्यवहार शुद्धि, की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं । इसके बिना ध्यान का कोई विशेष महत्व नहीं । जबकि इन पवित्रताओं से जुड़कर ध्यान–साधारण आदमी को महामानव स्तर तक पहुँचा देता है ।

भगवान महावीर ने इस समूची स्थिति पर गहराई से विचार किया है । उन्होंने ध्यान की प्रक्रिया के दो भेद बताएँ हैं । पहला है धर्म ध्यान दूसरा है अधर्म ध्यान । यदि यह पवित्र अन्तःकरण के साथ जुड़ा हो तो धार्मिक । अन्यथा पूरी तरह से अधार्मिक है ।

महर्षि पातंजलि अपने योग दर्शन की शुरूआत में ही यह बात साफ कर देते हैं । उनके अनुसार अभीष्ट "चित्त वृत्तियों का निरोध है" न कि केवल चित्त का । चित्त की एकाग्रता तो क्रोध में भी होती है । काम वासना से पीड़ित व्यक्ति को भी इसके अलावा कुछ नहीं सुझाई देता । उसका चित्त इसी में एकाग्र होता है । पर महावीर के शब्दों में यह एकाग्रता अधर्म ध्यान भर है ।

एकाग्रता तो हिटलर के पास भी थी । इससे उपार्जित अपनी मानसिक शक्तियों के कारण उसने जर्मन जैसी बुद्धिमान जाति को भी गुमराह कर दिया । उसने सम्मोहन जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी । जर्मनी की पराजय के बाद वहाँ के बुद्धिमान प्राध्यापकों ने अन्तर्राष्ट्रीय अदालत में दिए गए अपने बयान में कहा कि हम सोच भी नहीं पाते कि हमने यह सब कैसे किया ।

महत्वपूर्ण शक्ति का अर्जन नहीं, वरन् उसका उपयोग है । एक ही शक्ति बुरे व भले अन्तःकरण के अनुसार अपना प्रभाव दिखलाती है । बुरे कार्यों द्वारा इसका प्रभाव बुराई के रूप में भले के द्वारा भलाई के रूप में होता है । बिजली एक सी है । अच्छे पंखे को वह शांत भाव से चलाती है । पर यदि यही बिगड़ा हो, खड़–खड़ की आवाज करने के साथ टूट कर गिर भी सकता है । यही नहीं किसी का प्राण भी हरण कर सकता है ।

एक ही परमात्म शक्ति राम के माध्यम से भी अभिव्यक्त होती है और रावण के माध्यम से भी । प्रभाव और क्रिया कलापों में जमीन आसमान का भेद अन्तःकरण की शुद्धि और अशुद्धि के कारण है । शुद्ध अन्तराल में वही शक्ति निर्माण करने वाली सृजन करने वाली, हो जाती है । जबकि अशुद्ध अन्तःकरण में वही विनाशक सिद्ध होती है । यह तथ्य स्वाति की बूँद की तरह है । यह बूँद सांप के मुह में पड़कर जहर केले में कपूर व सीप में मोती बन जाती है , परिणामों में यह विभिन्नता आधारों में भेद के कारण है ।

यही कारण है कि सभी ने हृदय की पवित्रता को अनिवार्य बतलाया है । यही नहीं धर्म और पवित्रता दोनों का पर्याय तक माना है । साधना की सफलता मन की एकाग्रता पर कम यम–नियम के प्रति दृढ़ निष्ठा पर पूरी तरह निर्भर करती है । इसी को बताते हुए भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं हजारों में से कोई बिरला साधना में प्रवृत्त होता है । पर भ्रान्तियों के कारण ऐसे साधकों में से कोई इना–गिना व्यक्ति ही परम तत्व को जान पाता है ।

इंग्लैण्ड की संभ्रान्त महिला कुमारी स्वेड ने ग्रहस्थ बसाने की अपेक्षा महान प्रयोजनों के लिए जीवन अर्पित करने का संकल्प किया । वे देश हित की संकीर्णता से निकलकर विश्व नागरिक बन गई ।

मिस स्वेड गाँधी जी के आश्रम में भी आईं । वहीं रहकर उन्होंने आजीवन भारत की स्वतंत्रता और प्रगतिशीलता के लिए काम किया। वहाँ वे "मीरा" के नाम से प्रख्यात हुईं ।

आवश्यकता है सही ढंग से अध्यात्म का मर्म समझने की । ध्यान रखा जाय अध्यात्म बाजीगरी नहीं है । साधक की सम्पत्ति निर्मल अन्तःकरण है । शक्तियाँ तो बाजीगरों के पास भी होती हैं अध्यात्म से इनका क्या लेना देना ? पंचदशीकार विद्यारण्य ने अपने इसी ग्रन्थ में कहा है कि "कोई जरूरी नहीं है कि आत्मज्ञानी के पास–शाप वरदान की शक्तियाँ हों ।" पंचदशीकार के इस कथन को विभिन्न महापुरुषों के जीवन में देखा जा सकता है । महात्मा गाँधी, मालवीय जी, बिनोवा, स्वामी विवेकानन्द आदि का जीवन इसका जीता–जागता उदाहरण है ।

इस तथ्य पर ठीक तरह से विचार कर आध्यात्मिकता का सही तात्पर्य जानना चाहिए । आध्यात्मिक बनने का मतलव है मन-कर्म-वचन से पवित्र बनना । यदि इस दिशा में कदम बढ़ रहे हों तो समझना चाहिए कि सही दिशा में प्रयास हो रहा है । यदि ऐसा न बन पड़ रहा हो तो सही राह पर चलने के लिए प्रवृत्त हो जाना चाहिए ।

*

प्रत्यक्ष के गर्भ में छिपी रहस्यमयी ध्वनियाँ

ध्वनियों का अपना एक पृथक् संसार है । इनमें से कुछ सूक्ष्म स्तर की कर्णातीत होती हैं तो कुछ स्थूल । इस भौतिक दुनिया में रह कर अपनी स्थूल इन्द्रियों से हम स्थूल ध्वनियाँ ही सुन सकते हैं , किन्तु कई बार यह श्रव्य आवाजें भी इतनी रहस्यमय होती हैं कि लाख छानबीन करने के बावजूद भी इनका उद्‌गम और हेतु का कोई अता पता नहीं चल पाता, न ही इस बात की ही जानकारी मिल पाती है कि ऐसी ध्वनियों के पीछे प्रकृति का प्रयोजन क्या है ?

ऐसी ही अनसुलझी आवाजें विश्व के कई स्थलों में समय-समय पर सुनी जाती रही हैं । इनमें ब्रिटेन के डार्टमर, स्काटलैण्ड के कई स्थानों एवं लाफ निघ के तटीय क्षेत्रों में प्रायः घटित होती देखी जाती रही हैं । यहाँ एण्ट्रिम निवासी मूर्धन्य वैज्ञानिक डब्ल्यू. एस. स्मिथ द्वारा सन् १८९६ में इंग्लैण्ड की प्रसिद्ध पत्रिका "नेचर" में प्रकाशित उनके संस्मरण उल्लेखनीय हैं ।

वे लिखते हैं कि इंग्लैण्ड की ओर से एक मंत्री पद पर वहाँ उनकी नियुक्ति हुई । अनेक वर्षों तक वे उस पद पर कार्य करते रहते । उनका कहना है कि इस मध्य अनेकानेक अवसरों पर लाफ निघ नामक विशाल झील के किनारे तोप जैसी तीव्र डेसिबल की एक समय में थोड़े-थोड़े अन्तराल पर कई ध्वनियाँ सुनाई पड़ती थी , जबकि सच्चाई यह है कि उस क्षेत्र में आस-पास कोई भी मिलिट्री बेस नहीं था, जिससे यह माना जा सके कि यह तोप जैसी आवाजें वहीं से उत्पन्न होती थीं । वे लिखते हैं कि आरंभ में उनका अनुमान था कि यह आवाजें झील के उस पार से आती हैं, किन्तु बाद में पता चला कि यह झील के अन्दर से उद्भूत होती हैं । इस संदर्भ में उनने वहाँ के निवासियों एवं मछुआरों से भी सम्पर्क किया ताकि इस संबंध में कुछ विशेष जानकारी इकट्ठी की जा सके , पर वे भी इसका कारण बताने में सर्वथा विफल रहे । हाँ, समय-समय पर होने वाले धमाके की पुष्टि उनने अवश्य की, किन्तु इसमें प्रकृति का प्रयोजन क्या है , यह बताने में वे असफल रहे । इस घटना में सबसे विचित्र बात यह देखी गई कि आवाज सर्वदा झील के अन्दर से व दूर से आती सुनाई पड़ती और इससे भी बड़ी विलक्षणता तो यह थी कि इतने भारी विस्फोट से झील का पानी तनिक भी नहीं उछलता, न कोई तीव्र तरंग ही जल में पैदा होती दिखाई पड़ती । श्री स्मिथ लिखते हैं कि इस प्रकार के धमाके उन्होंने केवल एक वर्ष में (१८९५) कम से कम बीस बार सुने ।

> *बेंजामिन फ्रेंकलिन उन दिनों किताबों की दूकान चलाते थे । सेल्समेन से एक ग्राहक ने किसी किताब का मूल्य पूछा । उसने बताया एक डालर ।*
>
> *ग्राहक कम करने का आग्रह करने लगा । सेल्समेन ने बार-बार समझाया । "हमारे यहाँ एक दाम की नीति है आप लें या न लें । दाम एक ही रहेगा ।"*
>
> *ग्राहक को सन्तोष न हुआ । वह मालिक के कमरे में घुस गया और दाम कम कराने का आग्रह करने लगा । फ्रेंकलिन ने सिर उठाया और संक्षेप में कहा "अब उसकी कीमत सवा डालर है । चौथाई डालर मेरे समय की कीमत और जुड़ गई ।" उस समय तो वह चला गया पर थोड़ी देर में फिर लौटा तो कहा "उतने ही दाम में दिला दीजिए ।" फ्रेंकलिन ने कहा "अब वह डेढ़ डालर में मिलेगी । आप बार-बार हमारा समय खराब करेंगे , तो उसी हिसाब से उसके दाम बढ़ते जायेंगे ।"*

ऐसे ही विस्फोटों का वर्णन बेल्जियम के विख्यात प्रकृतिविद् ई. वान डेन ब्रोएक ने अपनी चर्चित कृति "सिमेल एट टेरे" में की है, जो आज भी ब्रूसेल्स के " नेचुरल हिस्ट्री म्यूजियम" में सुरक्षित रखी पड़ी है । इसमें उन्होंने ऐसे अनेकानेक विस्फोटों का उल्लेख किया है, जो समय-समय पर बेल्जियम के समुद्र तट पर सुने जाते रहे हैं और जिनके स्रोत का गहन जाँच-पड़ताल के बावजूद भी पता न चल सका । अभी भी ऐसी तीव्र आवाजें उस क्षेत्र में यदा-कदा सुनी जाती रही हैं,

पर रहस्य पर से पर्दा अब तक उठ नहीं सका है ।

इसी प्रकार की गन–फायर जैसी अनसुलझी ध्वनियाँ अविभाज्य भारत के सुन्दरबन्स (या सुन्दरबन्द्स) क्षेत्र में लम्बे काल से सुनी जाती रही हैं । आजकल यह क्षेत्र बँगला देश में पड़ता है । गंगा नदी से कुछ पश्चिम की ओर सुन्दर बन्द्स में बारीसाल नामक एक गाँव है, जो मुख्य शहर ढाका से लगभग सत्तर मील दक्षिण में स्थित है । बारीसाल और गंगा के पठार में विभिन्न स्थलों में ऐसी ध्वनियाँ अक्सर कर्णगत होती हैं । सन् १८९६ की "नेचर" पत्रिका में इस आशय की प्रकृतिविद् जी. बी. स्कॉट की विस्तृत रिपोर्ट छपी थी , जिसमें उन्होंने लिखा था कि जब वे सुन्दरबन्स होते हुए सन् १८७१ के दिसम्बर माह में कलकत्ता से आसाम जा रहे थे, तो उन्होंने पहली बार यह रहस्यमय ध्वनि बारीसाल में सुनी थी, और इस संबंध में उक्त गाँव के लोगों से पूछताछ की थी, पर कोई भी इसके निमित्त व उपादान कारण को बताने में सफल न हो सका था । हाँ, सभी ने इतना अवश्य स्वीकारा कि इस प्रकार के अविज्ञात धमाके प्रायः यहाँ हुआ करते हैं एवं इसका क्रम वर्षों पूर्व से चलता आ रहा है । उनका कहना था कि कई शोधार्थी अनेकों बार यहाँ आये और इसका कारण जानने का भगीरथी प्रयास किया, किन्तु परिणाम सदा निराशाजनक ही हाथ लगा । कठिन परिश्रम के बावजूद भी किसी अनुसंधानकर्मी को यह विदित न हो सका कि दक्षिण में समुद्र की ओर से यह विस्फोट किस प्रकार व बार–बार क्यों कर उत्पन्न होते हैं । श्री स्कॉट अपनी रिपोर्ट में कहते हैं कि एकबार इस संदर्भ में उनने उक्त गाँव के एक वयोवृद्ध व्यक्ति से पूछताछ की, तो उसने सिर्फ इतना ही कहा कि यह रहस्यमय आवाज यहाँ "बारीसाल गन्स " के नाम से प्रसिद्ध है ।

जी. बी. स्कॉट ने अपनी रिपोर्ताज में ब्रह्मपुत्र नदी से तीन सौ मील दूर चिलमारी गाँव में भी नदी–तट के आस–पास ऐसी ही विलक्षण गर्जनाओं का उल्लेख किया है । लम्बे काल से कर्णगत होने वाली इस विचित्र ध्वनि के हेतु के बारे में भी लोगों को कुछ ज्ञात नहीं है । ऐसी बात नहीं कि इस संबंध में जानने की कोशिश ही न की गई हो । अनेक प्रयास यहाँ भी किये गये, पर हर बार बारीसाल की तरह यहाँ भी दुराशा ही पल्ले बँधी ।

प्रख्यात थियोसोफिस्ट कर्नल एच. एस. आलकॉट ने अपने संस्मरण में बारीसाल के रहस्यमय विस्फोटों एवं जी. बी. स्कॉट के रिपोर्ट की सत्यता की पुष्टि की है । उनके अनुसार बारीसाल की गर्जनाएँ इतनी तीक्ष्ण और कर्णवेधी होती थीं, मानो निकट के ही किसी सैनिक शिविर से तोप छोड़ी गई हो, जबकि तथ्य यह था कि वहाँ मीलों दूर तक ऐसा कोई सैन्य शिविर नहीं था । वे लिखते हैं कि अभी भी वहाँ की तोप जैसी आवाजें रहस्य के गर्भ में छुपी हुई हैं ।

केरल त्रिवेन्द्रम से समीप चेम्पवन्ती नामक छोटे ग्राम में भी नारायण गुरु ईषव नामक अछूत परिवार में जन्मे । उन दिनों इस जाति के लोगों को विद्याध्यन तक का अधिकार न था, पर उनने एक उदार पण्डित के द्वारा संस्कृत धर्म दर्शन आदि का अच्छा अध्ययन कर लिया । कुछ समय साधनारत भी रहे । जो अन्तः प्रकाश मिला उसके आधार पर जातिगत भेदभाव मिटाने का कार्य हाथ में लेकर पूरी तरह उसमें जुट गये ।

उन्होंने एक शिव मन्दिर की स्थापना की । सवर्ण लोगों के विरोध करने पर उन्होंने घोषित किया कि इस मन्दिर में ब्राह्मण शिव की नहीं ईषव शिव की स्थापना हुई है । इसके बाद उन्होंने प्रतिमा के स्थान पर बड़े आकार के दर्पण स्थापित कराये ताकि हर दर्शक अपनी छटा देखकर आत्म देवता की झाँकी कर सके । इस प्रकार उन्होंने वेदान्त प्रतिपादन को अनोखे ढँग से लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया ।

इसी से मिलती–जुलती हृदय विदारक तीक्ष्ण आवाजें आस्ट्रेलिया के कई भागों में सुनी गयी थीं , जिनका कारण अब तक जाना नहीं जा सका । एक ऐसी ही विस्मय भरी ध्वनि की चर्चा करते हुए तत्कालीन समय के लब्ध प्रतिष्ठित भौतिक विज्ञानी ए. स्टुअर्ट अपने एक निबन्ध "टू एक्सपेडीशन्स इन टू दि इनटीरियर ऑफ सदर्न ऑस्ट्रेलिया" में कहते हैं कि फरवरी १८२९ में डार्लिंग नामक नदी तट पर वे और उनके एक मित्र श्री ह्यूम रुके हुए थे । ७ फरवरी के दिन लगभग ३ बजे वे लोग घूमने निकले । आकाश बिल्कुल स्वच्छ

और निरभ्र था। बादलों के कहीं नामोनिशान नहीं थे। तभी अचानक तीव्र गर्जना हुई। यह न तो किसी ज्वालामुखी के फटने जैसी थी, न किसी विशाल वृक्ष के गिरने जैसी, वरन् ध्वनि किसी बारूदी धमाके से मिलती-जुलती थी। वे लिखते हैं कि वहाँ पहुँचते ही उन्हें स्थानीय लोगों के द्वारा यह ज्ञात हो गया था इस प्रकार के प्राकृतिक विस्फोट रह-रह कर कई-कई दिनों में यहाँ होते रहते हैं। अतः जैसे ही उक्त दिन उन्हें वह धमाका सुनाई पड़ा, तुरन्त ही उसकी दिशा का अनुमान कर एक व्यक्ति को ऊँचे वृक्ष पर चढ़ कर उसका निरीक्षण-परीक्षण करने को कहा। कई घंटे तक वह वहाँ टँगा रहा पर कोई असामान्यता उस ओर नजर नहीं आयी। वह क्षेत्र घने पेड़ों से ढँका हुआ वन्य प्रदेश था, और नजदीक के शहर से काफी दूर बीच जंगल में पड़ता था, अस्तु किसी प्रकार की कोई सैन्य गतिविधि की भी कोई संभावना नहीं थी। एक अन्य यात्रा के दौरान दोनों मित्रों ने उस क्षेत्र के उस अनसुलझी पहेली का रहस्य जानने का बहुतेरा प्रयास किया, पर सफलता की जगह उन्हें हताशा का ही मुँह देखना पड़ा। आज भी वहाँ के धमाके पहेली बने हुए हैं।

कर्नल गॉडविन आस्टीन ने भारत यात्रा के दौरान अपने यात्रा-विवरण में ऐसे अगणित विस्फोटों का वर्णन किया है, जिनका गहन जाँच-पड़ताल के बाद भी उनके स्रोतों का पता न चल सका। मजेदार बात तो यह है कि वे इस बात का भी निर्णय नहीं कर सके कि उक्त ध्वनियाँ जल, थल अथवा आकाश में हुईं। "अन एक्सप्लेण्ड फैक्ट्स एनिग्माज एण्ड क्यूरियोसिटिज" पुस्तक में जे. जे. आस्टर के अनुभवों का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि १९७० में जब वे वायोमिंग एवं डकोटा की श्याम पहाड़ियों में अपने साथियों के साथ भ्रमण कर रहे थे, तो उन्हें रह-रह कर कर्ण-झिल्ली को फाड़ देने वाली ऐसे धड़ाके सुनाई पड़ते रहे, मानो आस-पास ही भयंकर बमबारी हो रही हो। उसी दिन स्थानीय लोगों के मार्गदर्शन में पूरा जंगल छान डाला गया, किन्तु कहीं भी किसी प्रकार के विस्फोट के कोई चिन्ह नहीं दिखाई पड़े। निकटवर्ती गाँव के लोगों से जब इस संबंध में जानकारी चाही गई, तो उनका कहना था, कि यह रहस्यमय अवाजें लम्बे समय से इन वनों में होती आयी हैं। किसी को भी इन आवाजों का रहस्य विदित नहीं है। उक्त पुस्तक के लेखक श्री रुपर्ट टी. गाउल्ड एवं जे. जे. ऑस्टर की अपनी धारणा है कि विश्व के अनेक देशों में घटने वाली यह घटनाएँ संभवतः किन्हीं प्राकृतिक कारणों से घटती हों, पर ऐसा क्यों होता है और उसके पीछे प्रकृति का उद्देश्य क्या है, इसका उद्घाटन होना ही चाहिए।

यह सत्य है निरर्थक और निरुद्देश्य लगने वाली यह ध्वनियाँ ऐसी हैं नहीं। इसके पीछे प्रकृति का कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य निहित है। यह बात और है कि पदार्थ विज्ञान और हमारी स्थूल बुद्धि उस तथ्य का अनावरण नहीं कर पा रहे हैं जिसके लिए प्रकृति ऐसे कौतुक रचती रहती है। सत्यान्वेषण के लिए हमें पदार्थ से अपदार्थ, भौतिक से अभौतिक, दृश्य से अदृश्य और स्थूल से सूक्ष्म की ओर उस दिशा में अग्रसर होना पड़ेगा, जिसे ऋषियों ने अध्यात्म विज्ञान के नाम से अभिहित किया है ऐसा होने पर ही रहस्यमय लगने वाली इन स्थूल ध्वनियों का सूक्ष्म और वास्तविक कारण हम जाने सकेंगे।

*

बाब राघवदास का जन्म पूना में हुआ पर उन्होंने लोकसेवा में अधिक सुविधा एवं निश्चिन्तता रहने की बात सोच कर अपना प्रान्त छोड़ा और उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले को कार्य क्षेत्र बनाया।

आरंभ में उनकी रुचि भगवद्भक्ति और योगाभ्यास में थी पर वह आवेश देर तक न रहा। उनने लोक मंगल में सच्ची ईश्वर भक्ति अनुभव की और अपनी जीवनचर्या उसी दिशा में मोड़ दी।

उन्होंने गोरखपुर जिले में ढेरों पाठशालाएँ स्थापित कराईं। रामायण के माध्यम से जन जीवन में स्वतंत्रता आन्दोलन की भावना उकसाई। कई बार जेल गये और कोढ़ियों के लिए एक सेवाश्रम बनाकर उसे सब प्रकार सफल बनाने में लगे रहे। लोग उन्हें गेरुए कपड़े न पहनने पर भी सच्चे सन्त के रूप में मानते और वैसी ही श्रद्धा रखते थे।

मस्तिष्क की चित्र विचित्र कार्य-प्रणाली

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जब व्यक्ति नहीं सोच रहा होता है, तब भी वह सोच रहा होता है। प्रथम दृष्टि में कथन कुछ पहेली सा प्रतीत होता है कि जब हम स्वयं सोच ही नहीं रहे हैं, तो फिर मस्तिष्क कैसे सोचेगा ? बात कुछ हद तक सही मानी जा सकती है, किन्तु मस्तिष्क क्रिया का भी अपना महत्व और स्थान है। यह सत्य है कि मनुष्य जब चिन्तन करता है, तो साथ-साथ मस्तिष्क भी सोचता है या दूसरे शब्दों में कहें, तो यह कहना पड़ेगा कि वह मस्तिष्क के माध्यम से ही मनन करता है, किन्तु असत्य यह भी नहीं है कि जब मनुष्य नहीं सोचता है तब मस्तिष्क शांत नहीं बैठा रहता कुछ न कुछ ताने-बाने बुनता रहता है।

अब यह कोई छुपी बात नहीं रही कि स्थूल मस्तिष्क अथवा चेतन मस्तिष्क के अतिरिक्त उसकी अन्य कई परतें भी हैं, जिन्हें मनोविज्ञान की भाषा में अचेतन, अवचेतन और सुपरचेतन के नाम से जाना माना जाता है। मनोविज्ञानवेत्ता जब यह कहते हैं कि मनुष्य जब शांत एकान्त में पड़ा रहता है, तब भी उसका मस्तिष्क सक्रिय रहता है, तो इससे उनका इशारा चेतन मस्तिष्क से नहीं, वरन् उसकी अन्य परतों की ओर होता है।

प्रयोगों के दौरान देखा गया है कि कई बार जो संदेश चेतन मस्तिष्क को दिये जाते हैं, उन्हें वह अनावश्यक और अनुपयोगी समझ कर छोड़ देता है, पर उन्हीं निस्सार लगने वाले संकेतों से मस्तिष्क की सूक्ष्म परतों में हलचल मच जाती है और उसके अनुरूप वह कार्य करना आरंभ कर देता है। इसे यदि सूक्ष्म मस्तिष्क का सोचना-समझना कहा जाय तो अनुपयुक्त ही क्या है, यद्यपि स्थूल चिन्तन हमारा रुका हुआ है।

इसी सिद्धांत पर मनोविज्ञान की मनःचिकित्सा पद्धति आधारित है। मनःशास्त्रियों ने इसी सिद्धांत के आधार पर अनेकानेक प्रयोग कर यह निष्कर्ष निकाला कि यदि चेतन मस्तिष्क को उपयुक्त संदेश दिया जाय, तो अवचेतन मस्तिष्क में घुसी विकृतियों, व्यसनों, कुण्ठाओं और रोगों को निकाल-बाहर किया जा सकता है। इसी को आटोसजेशन, हेटरो सजेशन के माध्यम से क्रियान्वित भी किया जा रहा है एवं इसके परिणाम भी उत्साहवर्धक रहे हैं, इंग्लैण्ड के मनोवैज्ञानिक ए. स्मिथ ने एक पुस्तक लिखी है-"डज ब्रेन थिन्क, ह्वैन आई स्लीप ?" इस पुस्तक में विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से उन्होंने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जब हम सोते हैं अथवा जागते हुए सुषुप्ति जैसी स्थिति में पड़े रहते हैं, तब भी मन मस्तिष्क शांत बना नहीं रहता, अपितु विचारों के ऊहापोह में उलझा रहता है और जो उसे काम-काम की बात लगती है, उसे वह सुरक्षित संरक्षित रख कर शेष को छोड़ देता है। अर्थात् उनके अनुसार मस्तिष्क इस दौरान सूचनाओं की छटनी में व्यस्त रहता है।

कहा भी गया है कि मस्तिष्क को सर्वथा विचार-शून्य नहीं किया जा सकता। बाहरी तौर पर प्रतीत हमें ऐसा अवश्य होता है, किन्तु यह एक प्रकार की भ्रान्ति मात्र होती है। वैसे इससे कोई हानि नहीं होती-ऐसा मनःशास्त्रियों का विचार है। हाँ, चेतन मस्तिष्क के लगातार विचार में निमग्न रहने से सिर्फ मन को, वरन् शरीर को भी कई प्रकार की हानियाँ पहुँच सकती हैं। थकान आती और चिन्तन मनन की क्षमता में ह्रास होता है, सो अतिरिक्त।

मनोविज्ञान की इस विधा द्वारा मनोविकारों को भी हटाया-मिटाया जा सकता है। यदि हम चेतन मस्तिष्क को बार-बार कोई सूचना दें, तो देखा गया है कि अनेक प्रयासों के उपरान्त वह मस्तिष्क की सूक्ष्म परतों में धँस जाती है, एवं वैसी ही क्रियाएँ व परिस्थितियाँ विनिर्मित करने लगती हैं, जैसा संदेश होता है। यद्यपि सूचनाएँ दिन में कुछ ही बार देनी पड़ती हैं, किन्तु अवचेतन मस्तिष्क उस आधार पर अहर्निश कार्य करने लगता है। सूक्ष्म मस्तिष्क की इन्हीं विशेषताओं के आधार पर यदि यह कहा जाय कि जब हम नहीं सोचते हैं, तो भी मस्तिष्क सोचता रहता है, एक अतिशयोक्ति मात्र नहीं है।

*

दैनिक जीवन की गायत्री उपासना

उपासना के लिए बैठने के साथ कुछ सनातन नियम जुड़े हुए हैं जिनमें से एक यह है कि शरीर, वस्त्र, स्थान, पात्र उपकरण सभी को शुद्ध करके बैठा जाय। देवता स्वयं स्वच्छ हैं। स्वच्छता का वातावरण चाहते हैं। साधक स्वच्छ होगा ऐसी आशा करते हैं। यह स्वच्छता बहिरंग भी होनी चाहिए और अन्तरंग भी। न केवल बुहारी से, जल से साबुन मिट्टी के सहारे यह प्रक्रिया पूरी होती है वरन् चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में भी उसका समुचित समावेश होना चाहिए। नियत स्थान, नियत समय और नियत कार्यक्रम भी निश्चित होना चाहिए। यदि कोई अनिवार्य अपवाद अड़ जाय तो बात दूसरी है अन्यथा प्रमादवश इस निर्धारण का पालन ही करना चाहिए।

पालथी मार कर बैठना, कमर सीधी रखना, आँखें अधखुली रखना, चित्त को प्रसंग की सीमा से बाहर न जाने देना। यह कार्य ऐसे हैं जिनको निर्वाह करते हुए ही साधना क्रम में आगे बढ़ना चाहिए। स्थान ऐसा चुनना चाहिए जो कोलाहल रहित हो और जहाँ स्वच्छ वायु का आवागमन होता रहे।

गायत्री उपासना प्रज्ञायोग के रूप में करनी चाहिए। इसके पाँच अंग हैं (१) आत्म शोधन (२) देव पूजन (३) जप (४) ध्यान (५) विसर्जन।

पूजावेदी–देव पीठ पर इष्ट देव की स्थापना करना और उनका प्राण सामने उपस्थित होने की भावना करते हुए सत्कार उपचार करना। इसे देवपूजन कहते हैं। साकारवादी गायत्री माता का, निराकारवादी मात्र अक्षरों का या उगते सूर्य का चित्र वेदी पर स्थापित कर सकते हैं। यह सावित्री और सविता का युग्म है। इसलिए लक्ष्मी नारायण, शिव पार्वती, सीताराम, राधाकृष्ण जैसे ही युग्म सविता और सावित्री का होना चाहिए। यह चित्रकार का कौशल और साधक का रुझान है कि किस रूप में दोनों का समन्वय करे। पूजा वेदी पर छोटा जल पात्र सूर्यार्घ के लिए और अग्नि की साक्षी अगरबत्ती, धूपबत्ती, दीपक आदि के रूप में स्थापित की जानी चाहिए। सावित्री को जल और सविता को अग्नि कहा गया है। इन दोनों की स्थापना भी चित्र के समान ही होनी चाहिए।

जप प्रारम्भ करने से पूर्व, देव–पूजन से पूर्व आत्मशोधन के षट्कर्म करने चाहिए। इसके लिए एक पंचपात्र और छोटा चम्मच पहले से ही तैयार रखना चाहिए जैसे कि पूजा उपचार के लिए प्रतिमा के सम्मुख तश्तरी रखी जाती है। यह दो वस्तुयें अर्घ्य कलश और अगरदानी के अतिरिक्त हैं।

आत्म शोधन क्रिया में (१) दाहिनी हथेली पर जल रख कर बायें से उसे ढक कर गायत्री मन्त्र मन ही मन पढ़ते हुए समस्त शरीर पर छिड़का जाता है। इसे पवित्रीकरण कहते हैं। (२) पंचपात्र में से चम्मच में जल लेकर तीन आचमन करना मन, वचन, कर्म की पवित्रता के लिए यह आचमन है। (३) सिर के मध्य भाग शिखा स्थान को जल से गीली करना। इसे शिखा वन्दन कहते हैं। (४) प्राणायाम के लिए बाईं हथेली पर दाहिने हाथ की कोहनी रखकर दाँया नथुना अँगूठे से और बायाँ नथुना तर्जनी मध्यमा से दबाते हैं। यह प्राणायाम मुद्रा हुई। बायें नथुने से पूरी साँस खींचने को पूरक भीतर साँस रोकने को कुंभक और दाँये नथुने से साँस बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। यह एक प्राणायाम हुआ। इसे तीन बार भी किया जा सकता है। सांस खींचते समय भावना करनी चाहिए कि विश्वव्यापी महाप्राण का दिव्य अंश भीतर प्रवेश कर रहा है। सांस रोकते समय प्राणतत्व को शरीर द्वारा सोखे जाने की और सांस छोड़ते समय कषाय–कल्मषों के बाहर निकलने की भावना करते हैं। इसके बाद थोड़ी देर बिना सांस खींचे रहा जाता है ताकि छोड़े हुए दोष वापस लौटने का अवसर प्राप्त न करें। यह प्राणायाम प्रक्रिया हुई। (५) न्यास अर्थात् बाईं हथेली पर जल रखकर दाहिने हाथ की पाँचों अँगुलियों को उसमें डुबाना और क्रमशः मुख को, नासिका के छिद्रों को, कानों को, भुजाओं को, जंघाओं को उस जल से स्पर्श कराया जाता है। इसका तात्पर्य है ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को पवित्रता के साथ जोड़ना। बचा हुआ जल सिर पर छिड़क देते हैं ताकि मन, बुद्धि, चित्त में जो मानसिक

दोष हों, उनका निराकरण हो जाय, यह न्यास हुआ। आत्मशोधन के पांच अंग हैं पर षट्कर्मों में पृथ्वीपूजन को भी सम्मिलित कर लेते हैं। धरती माता का अभिसिंचन, प्रणिपात इसका उद्देश्य है। आत्मशोधन के उपरान्त ही देवपूजन की प्रक्रिया चलती है।

स्थापना के अनन्तर आत्म शोधन, तदुपरान्त देव पूजा उपचार करना होता है। पुष्प, दीपक, चन्दन, नैवेद्य अक्षत यह पंचोपचार के पाँच उपकरण हैं। गायत्री मन्त्र मन ही मन बोलते हुए इन पाँचों को चित्र के आगे रखी हुई एक तश्तरी में छोड़ते जाना चाहिए। उपस्थित देव प्राण का सत्कार करने के अतिरिक्त भावना यह भी रहनी चाहिए अपना जीवन पुष्पवत् खुला और खिला हुआ, दीपक की तरह प्रकाश उत्पन्न करने वाला, चन्दन की तरह समीपवर्ती झाड़-झंखाड़ों को अपने समान बनाना, मधुर वचन और मधुर व्यवहार, तथा अपनी कमाई का, श्रम समय का अंशदान परमार्थ-प्रयोजनों के लिए किया जाता रहना चाहिए। पंचोपचारों द्वारा पूजन करने का दुहरा उद्देश्य है देवसत्कार और आत्म शिक्षण।

देवपूजन के उपरान्त जप संख्या पूरी करनी चाहिए। इसलिए एक निर्धारित संख्या रहे। तीन शरीरों की शुद्धि के लिए तीन मालायें न्यूनतम हैं। जिनसे अधिक बन पड़े वे अधिक करें। माला चंदन, तुलसी, रुद्राक्ष में से किसी की भी की जा सकती है। एक माला पूरी होने पर उसे पीछे की ओर घुमा देना चाहिए। सुमेरु (बीच का बड़ा दाना) उल्लंघन नहीं करना चाहिए। माला घुमाने में अँगूठा, मध्यमा, अनामिका का उपयोग होता है। तर्जनी को माला से पृथक् रखते हैं। इन परम्पराओं का निर्वाह ही उचित है। जहाँ माला की सुविधा न हो वहाँ उँगलियों के पोरवों को भी माध्यम बनाया जा सकता है। घड़ी भी इसका माध्यम हो सकती है। एक घण्टे में ११ माला होती हैं। इस अनुपात से घड़ी सामने रखकर भी जप संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है। जप इस प्रकार करना चाहिए कि कंठ, ओठ, जिव्हा तो हिलते रहें पर आवाज इतनी अस्पष्ट हो जिसे पास में बैठे हुए दूसरे लोग भी न सुन सकें।

जप के साथ ध्यान का समावेश होना चाहिए। प्रातःकाल के उदीयमान स्वर्णिम सूर्य को सविता कहते हैं। जप के साथ आँखे बन्द रखते हुए उदीयमान सूर्य का पूर्व अन्तरिक्ष में उदय होने का ध्यान करते हुए ध्यान करना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि उसकी दिव्य किरणें तीनों शरीरों में आरपार प्रवेश कर रही हैं। स्थूल शरीर (काया) में बल, सूक्ष्म शरीर (मस्तिष्क) में ज्ञान और कारण शरीर (हृदय) में दिव्य भावों का अनुदान बरसा रही है। जप के साथ-साथ यह ध्यान भी चलते रहना चाहिए ताकि मन को काम मिलता रहे अन्यथा वह निरर्थक बातों में भागदौड़ करेगा। वाणी से जप और मस्तिष्क में ध्यान का क्रम चलाते रहने पर ही एक पूरी बात बनती है।

जप संख्या पूरी हो जाने पर स्थापित चित्र प्रतिमा को मस्तक नवा कर हाथ जोड़ कर विदाई प्रणाम करना चाहिए। उठकर सूर्य की दिशा में मुँह करके छोटे जल कलश की धार बाँध कर छोड़ना चाहिए। मन में वह भाव रखना चाहिए कि कलश रूपी जीवन में जो जल रूपी विभूतयाँ विद्यमान हैं उन्हें परमेश्वर के निमित्त अर्पण करते हैं। यह जल भाप बन कर उड़े और ओस बूँद बनकर संसार में शान्ति शीतलता उत्पन्न करे।

सूर्य की परिक्रमा अर्घ्य स्थान पर ही खड़े खड़े एक बार कर ली जाती है। परिक्रमा का अर्थ देव प्रयोजन के लिए कदम बढ़ाना है। संक्षेप में यही है दैनिक साधना का उपक्रम। जप संख्या कितनी हो यह अपनी सुविधा और संकल्प पर निर्भर है। न्यूनतम तीन माला तो होनी ही चाहिए। ✱

एक पुजारी के मन्दिर में गणेश और उनके वाहन मूषक की दो प्रतिमाएँ थीं। वजन में दोनों का भार समान था।

वह उन्हें बेचने स्वर्णकार की दुकान पर पहुँचा। उसने उन्हें तोला और समान पाया। मूल्य भी दोनों का समान बताया।

इस पर पुजारी ने आश्चर्य किया और कहा -कहाँ गणेश जैसे महान देवता और कहाँ यह तुच्छ चूहा दोनों का मूल्य बराबर कैसे ?

सुनार ने हँसकर कहा गणेश तभी तक देवता थे तब तक उनमें आपकी श्रद्धा थी। उसे गँवाने के बाद तो वह मात्र धातु रह गये। धातु का मूल्य तो बाजार भाव से ही मिल सकता है।

एक विभूति, जो गंगा में समा गई

"ओ देखो, ओ देखो, वह अन्त्यज आ गया" पण्डित मण्डली में से किसी ने चिल्लाया —"उसे पास फटकने न देना, न ही कोई उसका स्पर्श करना, अब वह कुलीन नहीं रहा ।"

तभी कोई क्षीण स्वर सुनाई पड़ा "ब्राह्मण देवता, जिसे आप अस्पृश्य और नीच बता रहे हैं, वह तो पण्डितराज जगन्नाथ मिश्र है । संस्कृत के उद्भट विद्वान, पिंगल और दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित एवं व्याकरण के मर्मज्ञ । शायद पहचानने में कोई भूल हुई हो ।" इसी बीच आगन्तुक कुछ और निकट आ गया । युवक पुनः चिल्लाया पुनः "हाँ–हाँ, महाराज यह वही "पंडितराज " है जिन्हें सम्राट शाहजहाँ के दरबार में इसकी मानद उपाधि प्रदान की गई है, इनकी विद्वत्ता को देखते हुए ।"

"चुप रह, तभी से बक–बक किये जा रहा है । तुम जानते हो इस तथाकथित 'अभिजात' पंडितराज का इतिहास ।" ब्राँह्मण मण्डली में से कई स्वर साथ–साथ उभरे, पर स्फुट एक ही आवाज जो तनिक ऊँची थी, गरजती हुई सुनाई पड़ी ।

"हाँ, आचार्य ! इनका इतिहास मैं भलीभाँति जानता हूँ" । समूह में सम्मिलित युवक का निर्भीक उत्तर था–"यह एक सम्पन्न घराने के कुलीन ब्राह्मण हैं । गलती इन्होंने इतनी ही की थी कि पाणिग्रहण एक यवन–कन्या से परिवार वालों के विरुद्ध कर लिया था, क्योंकि उन्हें कन्या से प्रेम था और वह भी उन्हें चाहती थी । अब जबकि शाहजहाँ अपने पुत्र औरंगजेब की कालकोठरी में मृत्यु का इन्तजार कर रहे हैं और इनकी प्रियतमा भी इस संसार से विदा ले चुकी है, इन्होंने शेष जीवन वैराग्यपूर्ण ढंग से बिताने का निश्चय कर ही यहाँ काशी विश्वनाथ के दर्शनों के लिए पधारे हैं । इन्हें दर्शन की अनुमति दी जाय महाराज ।" युवक का अनुरोध भरा आग्रह था ।

"नहीं " एक साथ कई स्वर गूँज उठे । "क्या तुम्हें नहीं मालूम इन्हें इस अपराध के कारण जातिच्युत कर दिया गया है ।"

"सो तो पता है आचार्य" युवक का उत्तर था– "पर आप जैसे मूर्धन्य भी इस साधारण सी बात को तूल देंगे कि जाति बन्धन ईश्वर का निर्धारण है; आश्चर्य होता है और अन्तरजातीय विवाह से ईश्वरीय–विधान में हस्तक्षेप होता एवं व्यक्ति जाति–च्युत होता है, अचम्भा होता है । मैंने तो आज तक ऐसा किसी ग्रन्थ में पढ़ा नहीं उल्टे, लोम–विलोम विवाह की मान्यता का समर्थन ही आर्ष ग्रन्थों में किया गया है । ऐसी शादियों से न तो कोई ऊँचा बनता है, न नीच, न शूद्र, न ब्राह्मण । यह तो मानव की स्वार्थपूर्ण संरचना है । क्या आपने ऐतरेय के प्रसंग को विस्मृत कर दिया ? वे किस प्रकार नीच कुल में जन्म लेकर शूद्र होकर भी ब्राह्मण बन गये इसे भूल गये । यह सब तो आप्तजनों ने कर्म के आधार पर निर्धारित किया था कि जो जैसा कर्म करेगा, उसकी गणना चतुर्वर्णों में से किसी में की जायेगी । जगह–जगह शास्त्रों में इसी प्रसंग को उभारा भी गया है अनेक दृष्टांतों में देखने को मिलता है कि ब्राह्मण क्षुद्र कर्म करने के कारण शूद्र बन गया और शूद्र ने अपने उच्च आचरणों और कर्मों से ब्राह्मण की उपाधि धारण कर ली ।"

"यह सब कुछ जानते–समझते हुए भी आप सब इस विद्वान पण्डित की अवमानना करने पर तुले हुए हैं । आखिर क्यों ?"

"चक्रपाणि अभी तुम अपरिपक्व हो । इन गूढ़ बातों को नहीं समझोगे, अस्तु चुप रहने में ही तुम्हारी भलाई है, अन्यथा ...."

"अन्यथा क्या आचार्य ?" युवक का आक्रोश भरा स्वर उभरा–"यही न कि मेरी भी वही दशा होगी जो इस ब्राह्मणराज की हो रही है ? कोई बात नहीं , मैं इसे सह लूँगा, पर किसी निरपराध का इस प्रकार अपमान बर्दाश्त न कर सकूँगा ।"

अभी इस बूढ़े ब्राह्मण आचार्य और चक्रपाणि के बीच विवाद चल ही रहा था कि निकट ही खड़ी ब्राह्मण–मंडली मध्य से जोर–जोर के शोर की आवाजें आने लगी ।

दोनों उस ओर चल पड़े । इस बीच पंडितराज

जगन्नाथ उनके अत्यन्त निकट पहुँच चुके थे। वे भगवान विश्वनाथ के दर्शन की तीव्र आकांक्षा सँजोये उन तथाकथित 'ब्राह्मणों', से इसकी अनुमति चाह रहे थे, पर वे थे कि रास्ता रोके खड़े थे और उन्हें आगे बढ़ना नहीं देना चाह रहे थे। उनका कहना था कि तुम यवन कन्या के संसर्ग से अपवित्र हो चुके हो, किन्तु विद्वान जगन्नाथ अपनी पवित्रता के संबंध में ढेर सारे प्रमाण प्रस्तुत करते चले जा रहे थे, परन्तु उनके तर्कों और प्रमाणों को कोई मानने के लिए तैयार नहीं हो रहा था। अन्ततः एक बात पर सहमति हुई कि जगन्नाथ पण्डित को अपनी पवित्रता की साक्षी देनी पड़ेगी, उसे एक अग्नि-परीक्षा से गुजरना पड़ेगा। यदि इसमें वह सफल हो जाते हैं, तो उन्हें भगवान के दर्शनों के लिए जाने दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

अनुबन्ध रखा गया कि यदि वे सचमुच शुद्ध और पवित्र हैं, तो गंगा तट की सबसे ऊपर की सीढ़ी पर बैठ कर गंगा की स्तुति करें। यदि भगीरथी गंगा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ते हुए अन्तिम सीढ़ी पर उनका स्पर्श कर लेती हैं, तो उन्हें शुद्ध और पवित्र मान लिया जायेगा।

पं. जगन्नाथ मिश्र ने चुनौती स्वीकार कर ली और अश्रुपुरित नेत्रों से भाव-विव्हल होकर पतित पावनी गंगा का आवाहन शुरू किया।

वे कहने लगे "हे गंगे! जिसके पावन स्पर्श से पतितों के पाप और दुष्टों के दुरित धुल जाते हैं, आज उसी के समक्ष एक पापी उपस्थित होकर कातर प्रार्थना कर रहा है। हे भगवती! मुझे इनसे मुक्त कर अपना 'अंकशायी' बना ले। मुझ जैसे पापियों का और स्थान भी कहाँ हो सकता है। मुझ पर कृपा कर अपने में समाहित कर ले ....।" इस प्रकार वे एक-एक श्लोक बोलते गये और भगवती गंगा एक-एक सीढ़ी ऊपर आती गई। कहते हैं कि अजस्र अश्रुप्रवाहयुक्त बावनवें श्लोक के पूरा होते-होते तरणतारिणी कलिमलहारिणी गंगा ने अन्तिम सीढ़ी पार कर सदा-सदा के लिए पंडतधिराज को अपने में आत्मसात् कर लिया।

उनकी परीक्षा पूर्ण हुई और मूढ़ ब्राह्मण समुदाय एक विलक्षण प्रतिभा को कुप्रथाओं की बलिवेदी पर चढ़ा कर हाथ मलते और सिर धुनते रह गया।

चक्रपाणि अभी भी उन तथाकथित विद्वानों के झुण्ड में खड़ा था। उनके इस अविद्वतापूर्ण कार्य से उसे रोष तो बहुत आ रहा था, पर उसने तनिक संयम बरता और एक फीकी मुस्कान बिखेरते हुए व्यंग-वाण छोड़ा-"भव पण्डिताः ?"

अचानक उपस्थिजनों की विचार चेतना भंग हुई, तो निगाहें आवाज की दिशा की ओर उठ गईं, देखा कि एक तेजस्वी युवक की आँखों से घृणा की बूँदे सजल होकर टपक रही हैं।

सम्बोधन जारी रहा-"अब तो आप लोगों को संतुष्टि मिली! मन शान्त हुआ? एक निरपराध विद्वान को इस प्रकार का दण्ड देते हुए लज्जा नहीं आयी?

भगवान राम को वनवास मिला। सीता ने अर्धांगिनी के नाते उनकी सेवा सहायता के लिए साथ जाने और कष्ट सहने का निश्चय किया। दोनों एक आदर्श की स्थापना के लिए जा रहे थे। साथ ही उनके सामने अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना का उच्चस्तरीय उद्देश्य भी था।

सुमित्रा ने अपने पुत्र लक्ष्मण को उनके साथ जाने का प्रोत्साहन दिया। निजी सुविधाएँ छोड़ने और आदर्श स्थापना के लिए कष्ट सहने में उन्होंने पुत्र का अहित नहीं, लाभ देखा। लक्ष्मण तैयारी करने लगे तो उनकी पत्नी उर्मिला ने मोहवश उस में अवरोध उत्पन्न नहीं किया। चौदह वर्ष अकेले काटने और पति के कष्ट सहने में दुःख होते हुए उनने इसी आदर्श स्थापना में सब की भलाई सोची। और पति को प्रसन्नता पूर्वक वन जाने की आज्ञा दे दी। उस समय ऐसी ही महान महिलाएँ अपने देश में घर घर में थीं।

धिक्कार है ऐसी विद्वत्ता और विद्वानों को, जो परम्परा के नाम पर प्रथा की दुहाई देते हुए किसी को मिटा दें, संसार से उठा दें? शास्त्र हमें लकीर का फकीर नहीं बनाते, तोतारटन्त की विद्या नहीं सिखाते? वे हमें विद्वान के साथ-साथ बुद्धिमान और विवेकवान भी बनाते हैं। समय और परिस्थिति के अनुरूप दूरदर्शिता का कैसे उपयोग किया जाय-यह भी बताते हैं, पर आज आपने जो कृत्य किया है, उससे न सिर्फ हमारे पवित्र ग्रन्थ और उनके रचयिता अपवित्र हुए हैं, वरन् समस्त

ब्राह्मण समुदाय के सिर पर कलंक का एक ऐसा टीका लग गया, जो शायद ही कभी मिटे जब भी कभी इस घटना की चर्चा होगी तो बाद की पीढ़ियाँ कोसती हुई यही कहेंगी कि तत्कालीन समय में शास्त्र रटने वाले विद्वान तो थे, पर वे बुद्धिमान और विवेकवान थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।"

युवक का स्वर उत्तेजित होता चला जा रहा था एवं विद्वत् मंडली सर्वथा मौन रह कर सिर झुकाये उसे सुनती चली जा रही थी । इसी बीच चक्रपाणि को शान्त न होते देख पं. शशिधर उठे और उसे एक ओर ले जाकर समझाने का प्रयास करने लगे ।

युवक पुनः उत्तेजित हो उठा ।

"महाभाग ! आप भी उन्हीं का समर्थन करने का प्रयास कर रहे हैं ।"

"क्या करूँ चक्रपाणि मैं भी विवश हूँ " सजल नेत्रों से उन्होंने कहा "जगन्नाथ मेरा घनिष्ट मित्र था । उनकी कठोर सजा सुनकर मेरे भी प्राण जुबान तक आ गये थे, पर अकेला मैं कर भी क्या सकता था । मुझे भी तो इसी समाज में रहना है, जाति बहिष्कृत तो होना नहीं । इन्हीं कारणों से मजबूर होकर मौन रहना पड़ा ।"

"तो फिर यह क्यों नहीं कहते आचार्य कि आप भी कायर हैं, भीरु हैं, डरपोक हैं ।"

"चाहे जो समझ लो, किन्तु मुझे भी इस पाप का हार्दिक दुःख है और इसका प्रयश्चित्त भी मैं अवश्य करूँगा" पंडित शशिधर का कातर स्वर था ।

युवक का स्वर अब कुछ शान्त हुआ । उसने विनम्रतापूर्वक कहा—"महाभाग ! आप हमसे अनेक वर्ष आयु में बड़े हैं । हृदय की बात कहते संकोच होती है, पर कहे बिना मन शान्त भी न हो सकेगा ।"

"चक्रपाणि तुम आज कुछ भी कह लो, मैं उसका तनिक भी बुरा नहीं मानूँगा । "सच ।""हाँ " ।

"तो सुनिये " युवक ने कहा "आपने वह भोज-वर्णन तो सुना ही होगा ?"

"कौन-सा ?" आश्चर्य मिश्रित प्रश्न था ।

"वही-विभुना च सभा सभयाच विभु, विभुना सभयाच विमाति वयं ।" अर्थात् विद्वानों से सभा की शोभा होती है और सभा से विद्वानों की तथा दोनों से हम लोगों या समग्र समाज की शोभा होती है ।"

"हाँ-हाँ सुना है " शशिधर चहक उठे ।

"तो क्या आप यह नहीं मानते कि आज जो कुछ घटित हुआ उससे न सिर्फ विद्वानों और सभा की शोभा मारी गई अपितु समाज की महिमा भी धूमिल हुई है ।"

स्वीकृति में आचार्य ने सिर हिला दिया और फिर चिरमौन धारण कर लिया । किन्तु युवक कहता जा रहा था—"काश ! आज वे जीवित होते, तो उन्हें मैं आश्रय देता । भले ही इसके लिए मुझे परिवार और जाति से संघर्ष ही क्यों न करना पड़ता, पर अब जब वे नहीं रहे, तो मैं उनकी गंगा स्तुति को ही लिपिबद्ध करके उस महान विभूति के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पितकर उन्हें अमर बनाये रखूँगा । एक श्रुतिधर चक्रपाणि द्वारा संकलित जगन्नाथ मिश्र की वह गंगा स्तुति ही बाद में "गंगालहरी " के नाम से प्रख्यात हुई , जो उन्हें अब तक अविस्मरणीय बनाये हुए है ।

कहीं ऐसा न हो कि आज ऐसी ही प्रथा-परम्पराओं के नाम पर प्रतिभाओं को समाज खोता चला जाय । समाज को समय और परिस्थिति को ध्यान में रख कर तनिक लचीलापन अपनाना होगा और पनपती कुरीतियों को अंकुरित होने से पूर्व समय रहते उखाड़-पछाड़ कर फेंकना पड़ेगा, ताकि फिर कभी जगन्नाथ मिश्र जैसी विलक्षण विभूतियों को खोना न पड़े ।

*

डा. अलबर्ट श्वाइतजर लेमबार्ने (अफ्रीका) में अपना आश्रम बनवा रहे थे । वे स्वयं सारे काम की देखभाल कर रहे थे, तभी अचानक तूफान के आसार दिखायी दिये । तूफान आने से पहले ही कुछ सामान सुरक्षित स्थान तक पहुँचना आवश्यक था । पास ही एक आदिवासी बैठा था, जो पढ़ा-लिखा कारीगर लगता था । समय बहुत कम था, इसलिए डॉ. श्वाइतजर ने उस आदिवासी से सहायता करने के लिए कहा । वह व्यक्ति अपनी जगह से टस-से-मस न हुआ और दर्प के साथ बोला "मैं पढ़ा-लिखा सम्भ्रान्त व्यक्ति हूँ, मजदूर नहीं । मैं बोझा उठाने का काम नहीं कर सकता ।"

डॉ. श्वाइतजर के पास डॉक्टरेट की तीन उपाधियाँ थीं और उन्हें नोबुल पुरस्कार भी मिल चुका था । फिर भी वे हिचकिचाये नहीं और अकेले ही सामान उठाकर सुरक्षित स्थान तक पहुँचाने के काम में जुट गये । सारा काम पूरा कर चुकने के बाद उस आदिवासी के पास आये और बड़े प्यार से बोले "भाई मैं भी सम्भ्रान्त व्यक्ति बनना चाहता था लेकिन अफसोस कि मुझे सफलता नहीं मिल सकी ।"

तर्क ही नहीं, विवेक भी

अक्सर लोग कहा करते हैं कि प्रस्तुत प्रसंग में मेरा तर्क सही है और सामने वाले का गलत, मैं तर्कसंगत हूँ और दूसरा तर्कविहीन, पर लोगों को यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि सिर्फ तर्क के सहारे न तो किसी वस्तु को सिद्ध किया जा सकता है, न असिद्ध ठहराया जा सकता है, वरन् सच्चाई तो यह है कि तर्क के माध्यम से किसी एक चीज का खण्डन भी किया जा सकता है और दूसरे ही पल दूसरे प्रकार की दलीलों से उसका मंडन भी। अतः तर्कशास्त्र को ही किसी वस्तु को प्रमाणित करने का सबसे बड़ा, सर्वोपरि और प्रामाणिक आधार नहीं मान लेना चाहिए, अपितु साथ-साथ विवेक का भी इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

संस्कृत साहित्य में एक पुस्तक है "न्याय कुसुमांजलि"। इस पुस्तक में लेखक ने वादी और प्रतिवादी के दो दल प्रस्तुत किये हैं। एक ईश्वर के समर्थन में अनेकानेक ऐसे अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करता है, जिसे किसी भी बुद्धिजीवी के लिए अस्वीकारना असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य है। दूसरा दल उससे भी सटीक और तर्कसंगत दलील देते हुए यह सिद्ध करता है कि संसार में ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, संसार स्वतः उत्पन्न है। उसका कोई नियन्ता अथवा व्यवस्थापक नहीं है। अन्त में पुस्तक के रचनाकार लिखते हैं कि यहाँ न तो मेरा उद्देश्य ईश्वर को नकारना है और न स्वीकारना, इसके द्वारा मेरे आस्तिक अथवा नास्तिक होने का अनुमान भी नहीं लगाया जाना चाहिए, वरन् मैं तो सिर्फ यह बताना चाहता था कि तर्क कैसे किया जाता है और दलील के माध्यम से किसी तत्व को सिद्ध व असिद्ध साबित कैसे किया जा सकता है ?

कपिल मुनि ने अपने दर्शन में एक सूत्र दिया है-"ईश्वरासिद्धे"। इसकी व्याख्या करते हुए कई व्याख्याकार कहते हैं कि यहाँ कपिल मुनि का तात्पर्य यह है कि ईश्वर स्वतः सिद्ध है, उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, जबकि कई भाष्यकार इसका अर्थ यह कह कर लगाते हैं कि भगवान असिद्ध है, उसे तर्कों द्वारा साबित नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत सूत्र में कपिल मुनि का अभिप्राय चाहे जो रहा हो, पर एक बात स्पष्ट है कि किसी भी बात को मोड़ मरोड़ कर किसी भी पक्ष में किया जा सकता है। तर्कवादी चाहे तो अपने तर्कों द्वारा उसके अस्तित्व को अस्वीकार दे और चाहे, तो दूसरों को स्वीकारने पर मजबूर कर दे। वकील लोग प्रायः यही किया करते हैं। उनका पेशा ही होता है झूठ को सच बनाना और सच को मिथ्या साबित कर देना। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि दलील में कितनी सामर्थ्य है कि न्याय को अन्यायपूर्ण ठहरा दे और अन्याय को न्यायपूर्ण। इसमें वाक्पटुता एवं तर्क क्षमता की ही प्रमुख भूमिका होती है।

एक कथा है कि एक बार एक तर्कशास्त्री अपने कमरे में चिन्तनमग्न था, तभी उसकी पत्नी आयी। पूछा कि बात क्या है, जो आप इतने खोये-खोये लग रहे हैं। उसने जवाब दिया कि यही सोच रहा हूँ कि यह दुनिया कितनी मूर्ख है, कि जो कुछ मैं कहता हूँ उसे स्वीकार लेती है। इस पर पत्नी ने प्रतिवाद किया, पर पति महोदय अड़ गये वह तर्कशास्त्री जो थे। जब यह वाद-विवाद चल रहा था, तो तर्कवादी नाश्ता करने जा रहे थे। सामने टेबुल पर मक्खन लगी ब्रेड रखी थी। समाधान न पाकर पत्नी ने शर्त रखी कि यदि यह रोटी मक्खन के हिस्से वाली ओर से नीचे गिर गई, तो आपको हार माननी पड़ेगी और दूसरी ओर से गिरी, तो पराजय स्वीकार लूँगी। रोटी गिरायी गई। दुर्भाग्यवश ब्रेड मक्खन वाले भाग की ओर से नीचे गिरी। यह देख पत्नी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने पति की हार पर उनकी खिल्ली उड़ा दी, पर पति महोदय बड़े धैर्यवान थे। उन्होने कहा "इसमें हार क्या और जीत क्या! मक्खन मैंने जानबूझ कर गलत ओर लगा दिया था, ताकि तुम जीत जाओ और तुम्हें अनावश्यक निराश न होना पड़े।" पत्नी ने पति के तर्क का लोहा मान लिया, उसने कहा निश्चय ही आप जो विश्व को कहेंगे अवश्य ही उसे स्वीकारा जाएगा।

शरीर की उपयोगिता निस्संदेह अधिक है, पर उसे इतना न सजाओ कि आत्मा की महिमा फीकी पड़ चले।

यहाँ अभिप्राय यह तनिक भी नहीं कि तर्क निरर्थक और निष्प्रयोजन हैं। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं में हमें अनेक बातें तर्क के आधार पर स्वीकार करनी पड़ती हैं, किन्तु दलील को ही सब कुछ मान लिया जाय और उसके प्रति दुराग्रही मान्यता अपना ली जाय यह ठीक नहीं। तर्क के साथ-साथ विवेक बुद्धि का भी प्रयोग किया जाना चाहिए तभी सत्य और तथ्य के करीब पहुँचा जा सकता है। *

चेतना क्षेत्र की सुधि ली जाय

अभी भी संसार के कितने ही क्षेत्रों में ऐसे पिछड़े स्तर के मनुष्य रहते हैं, जिनके स्तर एवं साधनों में आदिम काल की अपेक्षा बहुत थोड़ा ही सुधार-परिष्कार हुआ है इसका कारण एक ही है सभ्य संसार के साथ घुलने मिलने से कतराना और आधुनिक उपायों को अपनाने के लिए आकर्षित न होना, जिनके सहारे सुविधा साधन बढ़ाए और प्रगति के उपलब्ध साधन हस्तगत किए जा सकते हैं। अलगाववादी प्रवृत्ति से इर्द-गिर्द के क्षेत्र में बढ़े चढ़े विकास क्रम के साथ उनका सम्बन्ध न जुड़ सका। एकाकी अलग थलग व्यक्ति अपनी अविकसित अन्तः प्रेरणा के आधार पर सर्वतोमुखी विकास कर सकें, यह संभव नहीं। पिछड़े हुए क्षेत्रों और वर्गों में यही कठिनाई छाई रहती है। इसी से वे सभ्यता का अनुशीलन करने के लिए स्वेच्छापूर्वक आगे बढ़ न सके। किसी ने उनके पीछे पड़कर येन केन प्रकारेण उन्हें प्रगतिशीलता के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए बाधित नहीं किया। फल-स्वरूप आदिम काल से मिलती जुलती परिस्थिति से घिरे हुए अनेक मनुष्यों को कबीलों को अभी भी दयनीय स्थिति में गुजर करते हुए देखा जा सकता है।

यह तथ्य न्यूनाधिक मात्रा में अधिकांश लोगों पर लागू होता है। उनकी प्रगति, सम्पन्नता चतुरता एक पक्षीय रहती है। शरीर को निर्वाह के मनोरंजन के साधन चाहिए। उन्हें जुटाने में ही अधिकांश समय श्रम, मनोयोग एवं अनुभव खप जाता है। ऐसा आमतौर से होता है। क्योंकि शरीर को ही सब कुछ माना जाता है। उसी को अपना समग्र स्वरूप समझा जाता है और शारीरिक प्रसन्नता, सुविधा का सम्पादन ही सफलता का चिन्ह माना जाता है। अभिरुचि ही कोई दिशाधारा अपनाती है। जिस दिशा में तत्परता-तन्मयता बढ़ती है उसी क्षेत्र में उपलब्धियाँ भी हस्तगत होती हैं। चूँकि शरीर को सुख, सुविधा पहुँचाने वाली साधन सम्पदा का उपार्जन उपभोग ही जीवन का लक्ष्य बनकर रह गया है, इसलिए उसी स्तर के उपार्जन - अभिवर्धन का माहौल बना और उत्साहवर्धक स्तर की सफलताएँ प्राप्त हुई हैं। मनःस्थिति ही परिस्थितियों की निर्माता है। इच्छा संकल्प और पुरुषार्थ के समन्वय को ही उस उपार्जन का श्रेयाधिकारी माना जा सकता है जो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हम सबको उपलब्ध है।

प्रस्तुत प्रगति को भौतिक प्रगति कहा जाता है। क्योंकि उसमें पंचतत्वों से बने भौतिक शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य पदार्थों को प्राप्त करना उन्हें अनुकूल ढाँचे में ढालना यही जीवन भर होता रहता है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त यही क्रम चलता रहता है। चिरकाल से इसी दिशा में सोचा जाता और प्रयास किया जाता रहा है। फल स्वरूप वे सुविधा सम्पदाएँ सामने हैं जो वैज्ञानिक आविष्कारों और निर्माणों के माध्यम से विनिर्मित की गई हैं।

विज्ञान के दो पक्ष हैं एक पदार्थ विज्ञान, दूसरा चेतना विज्ञान-आत्म विज्ञान दोनों का अपना-अपना कार्य क्षेत्र और अपना-अपना प्रतिफल है। चेतना के आत्मा के सम्बन्ध में लोग कुछ कहते सुनते तो रहते हैं, पर उस सत्ता का स्वरूप, उद्देश्य आनन्द खोजने के लिए उत्साहित नहीं होते। कारण यह कि भौतिक क्षेत्र के लिए आकर्षित उत्तेजित हुई मनोभूमि अपना समूचा चिन्तन और कर्तृत्व इसी एक केन्द्र पर नियोजित किए रहती है। यह सब चलता और बढ़ता भी इसलिए रहता है कि उसके लाभ परिणाम सबके समक्ष प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। जब कि चेतना का स्वरूप आत्मिक क्षेत्र की गहराई में उतरने अन्तर्मुखी होने और बारीकी से समझने पर ही स्पष्ट होता है। इतना झंझट कौन उठाए ? सम्यक दृष्टिकोण कौन अपनाए ? उथला स्तर उथली उपलब्धियों से ही सन्तुष्ट हो जाता है। बच्चों के लिए गुब्बारा, झुनझुना, चाकलेट बिस्कुट ही बहुत कुछ है। उसे बालू के घरौंदे और टूटी टहनियों के बगीचे लगाने में ही उत्साह रहता है क्योंकि उन कृतियों का प्रतिफल चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर होता है। बाल बुद्धि की सीमा प्रत्यक्षवाद तक ही सीमित है। जो तत्काल हाथ लगा, वही सब कुछ है। इन प्रयासों की भावी परिणति प्रतिक्रिया क्या हो सकती है ? यह सोच सकना

दूरदर्शी विवेकशीलता का काम है। किन्तु कठिनाई यह है कि उस दिव्य दृष्टि को विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। कल्पना, विचारणा, कुशलता, चतुरता जैसे सभी पक्ष भौतिक उत्पादन उपभोग में ही लगे रहते हैं। इतना अवसर अवकाश ही नहीं मिलता कि चेतना की सत्ता शक्ति और महत्ता को गंभीरतापूर्वक समझने का प्रयत्न कर सके।

शरीर प्रत्यक्ष दीखता है, वैभव प्रत्यक्ष दीखता है। विनोद का अनुभव होता है। वाह वाही लूटने में भी अहंता की पूर्ति होती है। इसी परिधि में सामान्य जन सोचते और दौड़ धूप करते पाए जाते हैं। इन संसाधनों से सम्पन्न बनाने में पदार्थ विज्ञान ने सहायता की है। जब ध्यान केन्द्रित हुआ तो इच्छा एवं खोज भी चल पड़ी। फलतः उपलब्धियाँ भी हस्तगत होती और बढ़ती चली गईं। स्थिति सामने है। प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, बल्ब, पंखे, हीटर, कूलर, तार, डाक, रेल, मोटर, जलयान, वायुयान, कल कारखाने आदि अनेकानेक उपकरण सुविधाएँ सँजोने के लिए सामने पड़े हैं। यह समस्त संसार पदार्थ को अपने ढंग से ढालने और उसके उपयोग करने हेतु नियोजित है। इनके सहारे सुविधा सम्पन्नता के नए-नए क्षेत्र हाथ लगते चले गए। भाषा, लिपि, दर्शन, शिल्प चिकित्सा, आदि क्षेत्र में आश्चर्यजनक अनुसंधान हुए हैं। युद्ध में प्रयुक्त होने वाले ऐसे अस्त्र-शस्त्र विनिर्मित हुए हैं जिनके सहारे एक सामान्य व्यक्ति क्षण भर में असंख्यों को धराशायी बना सकता है। यह सब पदार्थ विज्ञान की देन हैं। इनका यदि सदुपयोग बन पड़े तो निस्सन्देह मनुष्य इतना सुखी सन्तुष्ट और प्रसन्न एवं समुन्नत बन सकता है, जितना कि स्वर्ग लोकवासियों के सम्बन्ध में सोचते और वैसा सुयोग प्राप्त करने के लिए ललचाते रहते हैं।

आश्चर्य इस बात का है कि तथा कथित प्रगति की चरमसीमा के निकट पहुँच जाने पर भी मानवी सत्ता दिन पर दिन दुर्बल होती जाती है। अस्वस्थता, दरिद्रता, कलह उद्वेग, अशान्ति, असुरक्षा, आशंका की विपन्नता सामने आती जाती है। अपराध तेजी से बढ़ रहे हैं पारस्परिक अविश्वास, भय, आतंक की परिधि छूने लगा है। परिवार टूटते जा रहे हैं जो किसी तरह एक घर में निवास करते देखे जाते हैं, उनके बीच भी मनोमालिन्य, असन्तोष, अविश्वास सुलगता देखा जाता है। चैन कहीं नहीं व किसी को नहीं। व्यक्तित्वों का स्तर गिर रहा है, प्रतिभाएँ बुझ रही हैं। मानवीगरिमा को ज्वलन्त रखने वाली, चिन्तन की उत्कृष्टता और चरित्र की आदर्शवादिता घटती-मिटती जा रही है। मनुष्य शरीर धारण किए हुए होने पर भी लोग श्मशान वाली भूत, पलीत की मनःस्थिति लिए हुए डरते-डराते जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं। दुर्व्यसनों की पकड़ इस प्रकार बढ़ती एवं प्रचण्ड होती जाती है, जिसकी तुलना पौराणिक रूप [illegible] ग्रसे गए गज से की जा सके।

परिवार के सारे उत्तरदायित्व अपने अग्रज श्री महेन्द्र प्रसाद पर छोड़ कर राजेन्द्र बाबू देश सेवा में लग गये। वकालत छोड़ देने के कारण घर की आर्थिक स्थिति में तो अन्तर आया ही था कि अचानक बड़े भाई का स्वर्गवास हो गया। अब तो और भी हालत बिगड़ी। परिवार की सारी व्यवस्था बड़े भाई ही किया करते थे। राजेन्द्र बाबू को इस सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं थी। परिवार ऋण ग्रस्त हो गया था कई महाजनों का। सब लोगों ने राजेन्द्र बाबू से तकाजा किया परन्तु घर में इतना पैसा था नहीं कि सभी कर्जदारों को निपटाया जा सके।

बाबूजी ने फिर भी देश सेवा में किसी प्रकार का व्यतिक्रम न आने दिया। ऋण उतारने के लिये उन्होंने तीन चौथाई संपति बेच दी और कर्ज चुकाया। इस प्रकार उन्होंने धैर्यपूर्वक सारा ऋण अदा कर दिया। कोई और व्यक्ति होता तो उन परस्थितियों में अपना सन्तुलन खो ही बैठता।

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सभी क्षेत्रों में अनुपयुक्तता, अवांछनीयता के, अराजकता स्तर के घटाटोप छाए हुए हैं। सम्पदा सुविधा का बाहुल्य होते हुए भी उसके वितरण का समुचित प्रबंध नहीं हो रहा है। फलतः अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब होते जा रहे हैं, हर क्षेत्र में अपने-अपने ढंग की उद्दंडता उभर रही है। मर्यादाएँ टूट रही हैं। वर्जनाओं की परवाह नहीं की जा रही है। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाला मत्स्य

न्याय व्यापक क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाता चला जा रहा है। ऐसी दशा में शान्ति की सन्तोष की, एकता समता की घटोत्तरी होते चले जाना स्वाभाविक है।

इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि एक ओर जहाँ सुविधा सम्पदा की बढ़ोत्तरी होती जा रही है वहाँ दूसरी ओर उनके लिए तरसने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। जिनके पास प्रचुर साधन हैं वे मिलबाँट कर इसे खाने की बात नहीं सोचते वरन् उपभोग में आ सकने की सीमा से बाहर जो बचता है उसे विनाशकारी, आत्मघाती दुष्प्रयोजनों में लगा रहे हैं। फलतः उन्हें भी ईर्षा का-अनीति का कड़ुआ प्रतिफल हाथों हाथ भोगना पड़ता है। चैन से वे भी नहीं बैठ पाते। जहाँ भूख से अगणित लोग त्रास पाते हैं वहाँ अधिक खाने से उत्पन्न अपच भी सुसम्पन्नों के लिए विपत्ति का कारण बनता है। सम्पन्न और विपन्न दोनों ही वर्ग अपने-अपने ढंग से अपने अपने कारणों से दुःख सहते और विपत्ति में फँसते देखे जाते हैं।

इन विसंगतियों का कारण एक ही है चेतना क्षेत्र में नीति निष्ठा का अत्यधिक ह्रास। यदि मानवीगरिमा को ध्यान में रखा गया होता, आदर्शों का परिपालन बन पड़ा होता तो यह अवांछनीयता की स्थिति न आती। इन दिनों वैयक्तिक और सामूहिक क्षेत्रों में कुप्रचलन संव्याप्त है। उनका प्रभाव सामान्यजनों पर पड़े बिना नहीं रहता। संचित कुसंस्कार भी उभरते रहते हैं। देखा यही जाता है कि पतन की दिशा में अनायास ही मन चलता है और ऐसा कृत्य बन पड़ता है जिसे पशु प्रवृत्तियों का पक्षधर ही कहा जा सके। इन कारणों से जन सामान्य की मनःस्थिति पतनोन्मुखी ही बनती रहती है। इसी का परिणाम है कि शालीनता को अक्षुण्ण रख सकना, कठिन हो जाता है। भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट चरित्र का परिणाम वैसा ही होना चाहिए जैसा कि इन दिनों व्यापक रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है।

हाथी को अंकुश से, घोड़े को लगाम से, ऊँट को नकेल से, बैल को डंडे के सहारे वशवर्ती रखा जाता है और उपयोगी कृत्य करने के लिए बाधित किया जाता है। मनुष्य को धर्मधारणा के सहारे कुकर्मों से बचाया और सन्मार्ग पर चलाया जाता है।

उपार्जन एक बात है और उसका सदुपयोग दूसरी। शारीरिक और मानसिक क्षमता के आधार पर किसी भी प्रकार का उपार्जन किया जा सकता है किन्तु उसका सदुपयोग दूरदर्शी विवेक के बिना, नीति निष्ठा के बिना बन नहीं पड़ता। उस स्तर की क्षमता का होना भी सन्तुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

परिमार्जन परिशोधन का क्रम न चले तो गंदगी एकत्रित होती चले जाना स्वाभाविक है। शरीर में अनेकों मल निरन्तर बनते रहते हैं। उनका निष्कासन मल-मूत्र श्वास-स्वेद आदि मार्गों द्वारा होता रहता है। घर आंगन में आए दिन जमा होने वाला कचरा झाड़ू से बुहारा जाता है बालों और वस्त्रों की सफाई पानी और साबुन से होती है मन की आन्तरिक दुर्बलता और बाहरी कुप्रभावों के वशीभूत मनुष्य स्वभावतः वैसे आचरण करता है जैसे कि वह कीट पतंगों और पशु पक्षियों की पिछड़ी योनियों में करता रहा है। उस पतनोन्मुख प्रवाह को विवेक और संयम के द्वारा-मर्यादाओं और वर्जनाओं के अनुबंध द्वारा रोका जाता है। इस नियंत्रण और परिष्कृत परिवर्तन के लिए काम करने वाली प्रकिया का नाम ही अध्यात्म है। यह विद्या यदि आज पुनः वैसी ही उपयोगी बनायी जा सके तो ही मानवता को उबारा जा सकता है। *

सन्त गाडगे महाराष्ट्र के महान सन्तों में गिने जाते हैं। वे पढ़े लिखे तो नाम मात्र के थे पर भक्ति भावना के साथ समाज सुधार और चरित्र निर्माण की आवश्यकता को अविच्छिन्न रूप से जोड़ने की दृष्टि से उनकी मौलिकता बहुत लोकप्रिय बनी और जन साधारण द्वारा अपनाई गई।

गाडगे ने संगीत कीर्तन मंडली गठित करके प्रचार कार्य प्रारंभ किया। पीछे उनके शिष्य सहयोगियों द्वारा वैसी ही सैकड़ों कीर्तन मण्डलियाँ बनीं और उनका कार्य क्षेत्र समूचे महाराष्ट्र में व्यापक हुआ। जो धन उन्हें मिलता उससे वे जगह-जगह पाठशालाएँ स्थापित करते। इस प्रकार उनके द्वारा धर्म जाग्रति के अतिरिक्त शिक्षा प्रसार भी खूब हुआ। जाति भेद और छुआ-छूत मिटाने में इन मण्डलियों ने भारी सफलता प्राप्त की।

सन्त गाडगे को सन्त ज्ञानेश्वर और तुकाराम की परम्परा का माना जाता है और लोकसेवी सन्तजनों में उनकी गणना है।

चिर यौवन का रहस्य

मनुष्य को श्रेष्ठतम जीवों में गिना जाता है । यहाँ तक कि उसे परमात्मा की सर्वोत्कृष्टकृति कहा गया है । पंचतत्वों से विनिर्मित इसे देव मन्दिर भी माना और "शरीरमाद्यम् खलु धर्म साधनम्" अर्थात् धर्मादि को प्राप्त करने का सुनिश्चित साधन बताया गया है । इस संसार में जीवन का आधार यह शरीर ही है । कोई भी भौतिक या आध्यात्मिक उपलब्धि बिना स्वस्थ एवं निरोग सशक्त शरीर के संभव नहीं । अतः इसको सुन्दर स्वस्थ और रोगमुक्त रखना तथा पवित्रता, निर्मलता और शोभा-सुषमा से भरा रखना मनुष्य का सर्वोपरि कर्तव्य है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि देव मन्दिर रूपी इस काया की जब इतनी महिमा-महत्ता शास्त्रों में प्रतिपादित की गयी है, तो इसे स्वस्थ, सशक्त एवं दीर्घायुष्य कैसे रखा जाय ? इसका उत्तर देते हुए आर्षग्रन्थों, आयुर्वेद ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर दीर्घ-जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है । अथर्ववेद ५/३०/७ में उल्लास, स्फूर्ति निरोगता को ही यौवन बताते हुए कहा है ।-

"अनुहूत पुनरेति विदवानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ।।" अर्थात् "हे मनुष्यो ! तुम मृत्यु की ओर क्यों जा रहे हो ? मैं तुम्हें जीवन, उल्लास, यौवन, उत्साह की ओर बुला रहा हूँ , वापस आओ । वास्तविक आयु कुछ भी क्यों न हो, मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह अपने जीवन-पर्यन्त पूर्ण स्वस्थ, शक्तिवान एवं वीर्यवान बना रहे । वेदों में इसी तथ्य का उद्घोष किया गया है ।

वस्तुतः मनुष्य अप्राकृतिक दिनचर्या एवं असंयम अपनाकर ही इस दुर्लभ, अनोखे एवं सुन्दर देह रूपी ईश्वरीय उपहार की उपेक्षा-अवहेलना करता तिरस्कार करता और उसे रोगी, शक्तिहीन एवं कुरूप बनाता है । इस संबंध में विख्यात पाश्चात्य स्वास्थ्य विज्ञानी डॉ. मेलविन कीथ ने गहन अनुसंधान किया है । अपनी कृति "रायल रोड टू हेल" में उनने लिखा है कि अप्राकृतिक जीवनचर्या अपनाने के कारण मानव जाति दिन-प्रतिदिन शक्ति-सामर्थ्य की दृष्टि से क्षीण होती जा रही है । जिसका प्रतिफल है असमय बुढ़ापा एवं अनेकानेक रोगों की उत्पत्ति । यदि चिन्ता रहित सरल एवं प्राकृतिक रहन-सहन अपनाया जा सके तो कोई कारण नहीं कि दीर्घ जीवन का आनन्द न उठाया जा सके । इसके लिए मनुष्य को प्रकृति के अन्य सदस्यों, पशु-पक्षियों से प्रेरणा लेनी और उनका अनुकरण करना चाहिए जो आयु के अन्तिम समय में भी असीम उत्साह एवं उमंग से भरे रहते हैं । एक मानव ही है जो अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारता और अनेकों प्रकार के रोगों से ग्रस्त हुआ रोते-कलपते जीवन के अन्तिम दिन पूरे करता है ।

वस्तुतः प्रकृति की प्रेरणा है कि अनावश्यक चिन्तायें छोड़ दी जायँ तथा ईश्वर प्रदत्त जीवन का सर्वोत्तम सदुपयोग किया जाय । प्रसन्नता एवं प्रफुलता का प्रत्येक कार्य में समावेश रखते हुए नैसर्गिक जीवनक्रम अपनाकर जीवन पर्यन्त यौवन का आनन्द उठाया जाय । कृत्रिमता से सदैव दूर रहा जाय । निश्चित जीवनचर्या अपनाते हुए समय पर उठना, काम निपटाना, आहार-विहार संयमित रखना एवं रात्रि को निश्चिन्त होकर सो रहना ही सदा स्वस्थ एवं चिरयुवा रहने का रहस्य है । मानवेतर प्राणी इसी नियम को पालते और चिरयुवा बने रहते हैं ।

"स्टेइंग यंग बियोंड योर इयर्स" नामक अपनी पुस्तक में सुप्रसिद्ध चिकित्सा विज्ञानी डॉ. एच. डब्लू. हैगर्ड ने काहिली एवं कृत्रिमता को सभी रोगों एवं वार्धक्य का कारण माना है । उनका कहना है कि प्रकृति विरोधी आचरण करके ही अपनी भूल, प्रमाद या अज्ञानवश लोग रोगों को आमंत्रित करते हैं । सक्रियता, प्रसन्नता एवं प्राकृतिक दिनचर्या से युक्त जीवनक्रम अपनाकर हर कोई स्वस्थ एवं दीर्घजीवी हो सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं । डा. राधाकृष्णन ने चिरयौवन का रहस्य बताते हुए कहा है कि इसके लिए मनुष्य को हँसमुख सरल स्वभाव को वास्तविक एवं गंभीर रूप से विकसित करना तथा प्रकृति के अनुरूप आहार-विहार अपनाना चाहिए । प्रसन्नता-प्रफुल्लता युक्त संयमित प्राकृतिक जीवनक्रम अपनाने से ही मनुष्य देह-रूपी देव मन्दिर रोग रहित एवं शक्तियुक्त रह सकता है । सशक्तता-सबलता के यही आधार स्तंभ हैं । *

मानवी गरिमा की गौरव भरी उपलब्धियाँ

प्रवाह की दो दिशाएँ हैं एक नीचे गिरने की दूसरी ऊपर उठने की । हिमालय के उच्च शिखर पर जमा हुआ धवल हिम जब पिघलता है तो उससे बनी जल राशि क्रमशः नीचे की ओर बहने लगती है । कुछ समय तो वह जल सामान्य रहता है पर नीचे की ओर बहते-बहते वह गँदला होता जाता है । अपने साथ कूड़ा कचरा और धरती के रसायन समेटता ले जाता है । अंततः ऐसे स्थान पर जा पहुँचता है जहाँ खारे जल से भरा समुद्र भरा है । उस पानी को पशु पक्षी तक नहीं पीते । सिंचाई के काम तक में उसका उपयोग नहीं होता यह पतन का क्रम है ।

उत्थान की राह दूसरी है । समुद्र से भाप उठती है । बादल बनकर आगे बढ़ते हैं । पहाड़ों पर बर्फ का रूप धारण करती है । मैदानों को हरीतिमा शस्य श्यामला बनाती है । जलाशयों को शीतल और सजीवता से परिपूर्ण करती है । प्राणी आहार और पानी प्राप्त करते और जीवित रहते हैं, यह उत्कृष्टता अपनाने का क्रम है । इसे अपनाने वाले बादल इन्द्र देवता के प्रतिनिधि माने जाते हैं । उनका स्वागत करने के लिए मोर, मेंढ़क तक गीत गाते हैं ।

जीवन एक दैवी अजस्र अनुदान है । इसे पतन के गर्त में भी गिराया जा सकता है और उत्थान की दिशा में भी अग्रसर किया जा सकता है । बुद्धिमत्ता और मूर्खता की पहचान इसी कसौटी पर होती है कि दोनों में से किसे चुना गया । कदम किस ओर बढ़ाया गया । यहाँ दूरदर्शिता और अदूरदर्शिता ही अपना अपना दबाव डालती है । अदूरदर्शिता इसलिए जीत जाती है कि उसमें तत्काल का रसास्वादन करने का आकर्षण जुड़ा रहता है । दूरदर्शिता वट वृक्ष की तरह है जो समयानुसार फल देता है अदूरदर्शिता बाजीगर के तमाशे दिखाकर बच्चों को ललचाने जैसी है । उसी में हथेली में सरसों जमाने वाले कौतूहल भी जुड़े हुए हैं । बच्चे पढ़ाई छोड़ कर बाजीगर के तमाशे को देखने के लिए ढेरों समय उसके पीछे लगे फिरने में गुजारते हैं । वट वृक्ष को बढ़ने और फलने में समय लगता है । पर उसकी दृढ़ता विशालता और आश्रय देने वाली गरिमा बढ़ी चढ़ी होती है । खरपतवार तो अनायास ही उग पड़ते हैं । उखाड़ने पर भी बार बार उगते रहते हैं । पर बहुमूल्य पादपों को सतर्कतापूर्वक सींचना पड़ता है । खाद पानी देने और रखवाली का दायित्व वहन करना पड़ता है । यहीं विवेक की परीक्षा होती है । बाल बुद्धि ललचाती और बेतहासा दौड़ में फिसल पड़ती है । किन्तु समझदारी धैर्य, साहस, लगन का परिचय देती है । औचित्य ही अपनाती है । राजहंस की तरह दूध ग्रहण करने पानी छोड़ देने की कला प्रदर्शित करती है, मोती चुगने और कीड़ों पर हाथ न डालने की उनकी व्रतशीलता आजीवन निभती रहती है । इसी को मानवी गरिमा की गौरव भरी उपलब्धि कहते हैं । आत्म परिष्कार-दृष्टिकोण का परिमार्जन ही वह पराक्रम है, जिसके आधार पर मनुष्य जीवन धन्य बनता है ।

औसत व्यक्ति अनुकरण प्रिय होता है । जो कुछ इर्द-गिर्द घटित होता रहता है वही उसके लिए उचित एवं अनुकरणीय बन जाता है । बचपन में तो प्रगति का यही एक मात्र आधार अवलम्बन होता है, जिस भाषा को परिवार बोलता है, उसी को बच्चे सीखते और बोलते हैं । जिस प्रकार का आहार आच्छादन घर वालों को पसंद होता है उसी प्रकार का बच्चे भी पसंद करने लगते हैं । आचरण रुझान भी उसी प्रकार का बन जाता है । इस आरंभिक प्रगति प्रक्रिया से सभी परिचित हैं । बड़े होने पर भी यह प्रवृत्ति मान्यताओं, आकांक्षाओं और विचारणाओं पर भी छाई रहने लगती है । देखा जाता है कि लोक चिन्तन एवं जन स्वभाव पर पशुप्रवृत्तियाँ ही छाई रहती हैं । वे जन्म जन्मान्तरों की संचित संपदा जो होती हैं । आम प्रचलन भी उन्हीं का पोषक समर्थक होता है । इस प्रकार अंकुर को खाद पानी मिलता रहता है और प्रवृत्ति उसी ढांचे में ढलती रहती है उसी प्रवाह के साथ बहने लगती है ।

नदी नालों में हल्के पत्ते तिनके भी प्रवाह की दिशा में अनायास ही बहते चले जाते हैं । आम लोग भी यही करते हैं । पशुओं में आत्मपोषण ही प्रधानता होती है । वे स्वार्थ सिद्धि की ही दृष्टि रखते हैं । दूसरों

के हितों का ध्यान रखना उन्हें आता ही नहीं । पुण्य परमार्थ जैसी उत्कृष्टता उनके स्वभाव में सम्मिलित ही नहीं होती है । उत्कृष्ट आदर्शवादिता को अंगीकार करना अपनाना तो तभी बन पड़ता है जब मनुष्यता प्रौढ़ परिपक्व होती है । वैसी स्थिति न आने तक सर्व साधारण को नर पशुओं जैसी रीति नीति अपनाते देखा जाता है । झुण्ड के साथ चलना, पक्षियों का समूह में उड़ना तो सभी देखते हैं पर जहाँ तक अनगढ़ आचरण का संबंध है लोग एक दूसरे के साथ चलते और एक दूसरे के साथ आचरण करते देखे जाते हैं, उसके लिए कहीं पढ़ने सीखने नहीं जाना पड़ता । पशु पक्षी किसी का भी उगाया चारा दाना खाने लगते हैं । उन्हें इस बात का ज्ञान विचार नहीं होता कि सीमा मर्यादा में रहना चाहिए और दूसरों के उपार्जन का अपहरण नहीं करना चाहिए । वे जहाँ भी हरियाली देखते हैं वहीं टूट पड़ते हैं । भले ही वह कृषि निर्धन की ही क्यों न हो ? भले ही किसी ने कितना ही कष्ट सहकर उसे उगाया हो जो भी जहाँ भी जिसका भी मिले उसे बिना कुछ संकोच किये चरने लगना सभी क्षुद्र जीव जन्तुओं की रीति नीति होती है ।

पशुओं को स्वच्छता मलिनता का अन्तर भी विदित नहीं होता । जहाँ रहते हैं वहाँ मल मूत्र त्यागते रहते हैं । बुहारना उन्हें आता ही नहीं । सुरुचि सम्पन्न होने के लिए उनके पास कोई मार्गदर्शन नहीं होता । इसलिए उन्हें मलिन स्थितियों में रहने का ही अभ्यास पाया जाता है । मर्यादाओं और वर्जनाओं का अन्तर करना भी उन्हें नहीं आता । अन्य समुदायों में नर मादा मात्र का सम्बन्ध ही रहता है । माता, पुत्र, भाई, बहन, आदि की भी कोई पवित्र मर्यादा नहीं रहती है । स्वच्छन्द यौनाचार उनका स्वभाव होता है । मनुष्य भी यदि इन्हीं आचरणों को अपना ले तो उसकी स्थिति आदिम युग के कबीले वालों से भी अधिक गई बीती हो जायगी । गई बीती इसलिए कि मनुष्य के पास अपेक्षाकृत बुद्धिबल भी अधिक है और साधनों की बहुलता भी उपलब्ध करती है । विज्ञान ने कई प्रकार के साधन सुविधा और समर्थता बढ़ाने वाले अनुदान भी उसे दिये हैं । इन सब पर यदि नागरिकता सामाजिकता जैसे अंकुश न रहें, धर्म कर्तव्य अपनाने का अनुबंध न रहे, शासन और समाज का दबाव हट जाय, तो वह सहज ही उद्दण्डता की चरम सीमा तक पहुँच सकता है ।

पशुओं पर प्रकृति प्रेरणा का एक अंकुश तो है पर मनुष्य ने तो उसे भी अमान्य ठहरा दिया है । अन्य प्राणियों में यौनाचार मादा की माँग पर मात्र गर्भधारण की वंश परम्परा चलाने के निमित्त होता है । पर मनुष्य ने तो कामुकता को हर प्रकार से अमर्यादित ठहरा दिया है । उसने इस संदर्भ में प्राणी जगत में चलने वाली समस्त मर्यादाओं को तहस-नहस कर दिया है । सिंह जैसे हिंस्र प्राणी भी शिकार पर तभी आक्रमण करते हैं जब उन्हें भूख लगती है और पेट खाली रहता है । किन्तु मनुष्यों में से भरे पेट वाले ही अधिक लालची, संग्रही, तृष्णातुर देखे जाते हैं और इन्द्र कुबेर बनने की महत्वाकांक्षाओं के लिए निरन्तर उद्विग्न बने रहते हैं । सामान्य प्राणियों के पास तो उनके दाँत और पंजे शस्त्र हैं पर मनुष्य तो ऐसे आग्नेयास्त्रों से सम्पन्न हो गया है कि अपने से कितने ही अधिक समर्थों को देखते धराशायी कर सकता है । इन परिस्थितियों को देखते हुए हिंस्र अथवा बुद्धिहीन समझे जाने वाले जीवों की तुलना में मनुष्य कहीं अधिक विघातक हो गया है । वह जब दुष्टता पर उतरता है तो ऐसे अनर्थ खड़े करता है जिन्हें पाशविक न कहकर पैशाचिक कहने में ही औचित्य है ।

देखा जाता है कि इसी स्तर के लोगों का समुदाय में बाहुल्य है । बाहर से सफेद पोश दीखने वालों में से अधिकांश ऐसे होते हैं जिन्हें चमकीले पन्ने से सुशोभित घड़े में विष भरा हुआ होने की उपमा दी जा सकती है । नीति और न्याय का बखान करते रहने वालों में से अधिकांश ऐसे देखे जाते हैं जिनकी कथनी और करनी में जमीन आसमान जैसा अन्तर पाया जाता है । छद्म और प्रपंच अनेक आकार प्रकार अपनाकर मनुष्य की व्यावहारिकता में सम्मिलित हो गया है । ऐसे बहुमत वाले समाज में रहा, पला और बढ़ा व्यक्ति स्वयं आदर्शवादी ढाँचे में ढल सकता है, ऐसी आशा करना व्यर्थ है । वातावरण के दबाव और परिस्थितियों के प्रवाह में साधारण स्तर का मनुष्य उसी दिशा में बढ़ सकता है, जिसे पाशविकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है । इसे अपनाने पर आत्मप्रवंचना-जन्य आत्म प्रताड़ना ही हर किसी को सहनी पड़ सकती है । वस्तुस्थिति प्रकट हो जाने की आशंका सदा बनी रहती है और लगता रहता है कि अनीति अपनाने की आदत जब प्रकट हो जायेगी तो कोई साथी सहयोगी न रहेगा । किसी का भी विश्वास न रहेगा । सच्चा सम्मान और गहरा सहयोग करने वाला

मित्र एक भी न बना रहेगा । पाशविकता के यही प्रत्यक्ष प्रतिफल हैं । मनुष्य कलेवर में उसे अपनाये रहना वैसा ही है जैसा कि किसी प्रौढ़ व्यक्ति को छोटे बच्चे के कपड़े पहना कर उपहासास्पद बना दिया जाय ।

अन्य प्राणियों में शरीर और मन ही प्रधान रहता है । अन्तःकरण तो उनमें अति प्रसुप्त स्तर पर ही देखा जाता है । पर मनुष्य की तो अन्तरात्मा भी प्रबल है । उसमें औचित्य अपनाने पर प्रसन्नता प्रफुल्लता उभरती है और अनीति का अवलम्बन करने पर आत्मक्रान्ति से भरी हुई उद्विग्नता उफनती है । जिसके रहते कोई भी अर्ध विक्षिप्त स्थिति में ही जीवन यापन कर सकता है । मनोविकारों की भरमार हो तो न शरीर स्वस्थ रह पाता है और न मन में शान्ति स्थिर रह सकती है । ऐसी विपन्नता से जकड़ा हुआ व्यक्ति चित्र विचित्र आधि–व्याधियों से जकड़ा रहता है । सही सोचने और सही करने के लिए जिस अन्तःकरण की आवश्यकता है उससे स्थिति भी विपन्न हो जाती है और सही दिशा में सही कदम उठा सकने की समर्थता पलायन कर जाती है । ऐसे व्यक्ति शरीर से अस्वस्थ मन से असंतुलित अन्तःकरण से उद्विग्न पाये जाते हैं । ऐसा गया गुजरा व्यक्तित्व लेकर न कोई चिरस्थायी भौतिक सफलता अर्जित कर सकता है और न आत्मिक क्षेत्र में उत्कृष्टता का रसास्वादन कर सकना संभव होता है । उसे डरती डराती भूत पिशाचों जैसी जिन्दगी जीनी पड़ती है । वे या तो मरघट जैसी घिनौनी परिस्थितयों में रहने के लिए जा पहुँचते हैं या फिर वे विपन्नताएँ जहाँ तहाँ से दौड़ती हुई उस अनगढ़ पर बेतरह लद जाती हैं । अनेकों दुर्व्यसनों आदतों में सम्मिलित हो जाते हैं । गुण, कर्म, स्वभाव में आदि से अंत तक निकृष्टता ही छाई रहने लगती है । इसे इसी धरती का, इसी जिन्दगी का, प्रत्यक्ष नरक कहा जाय तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी । पशु प्रवृत्तियों के अभ्यस्त व्यक्ति प्रायः ऐसे ही घुटन भरे वातावरण में आधी अधूरी साँस लेते और ज्यों त्यों करके जिन्दगी के दिन पूरे करते हैं । इस नारकीय निकृष्टता ने जिन्हें घेर रखा है, उन्हें हर दृष्टि से दुर्भाग्यग्रस्त ही कहा जायगा । भले ही उनके पास बलिष्ठता, सुन्दरता, सम्पन्नता एवं अहंकार बढ़ाने वाले ठाटबाट के पहाड़, अडम्बार ही क्यों न लदे हों ? अच्छा यही है कि इस स्थिति से उबरने का प्रयत्न किया जाय ।

मानवी गरिमा के अनुरूप उत्कृष्ट आदर्शवादिता अपनाने में समर्थ हो सकना ही मनुष्य जीवन में देवत्व की उपलब्धि एवं अनुभूति है । जीवित रहने स्वर्ग का रसास्वादन कर सकने का सुयोग सौभाग्य भी यही है । इसके लिए इतना ही करना पड़ता है कि अपनी मान्यताओं, भावनाओं, आकांक्षाओं, और विचारणाओं को आदर्शवादिता के राजमार्ग पर चल सकने के लिए समर्थ बनाया जाय , उद्यत किया जाय । निर्वाह में संयम बरता जाय । सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त जीवनचर्या में सर्वतोभावेन सम्मिलित किया जाय । तृष्णाओं, लिप्साओं और महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगाया जाय । संकीर्ण स्वार्थपरता की परिधि से बाहर निकला जाय, आगे बढ़ा जाय और ऊँचा उठा जाय । जो इस दिशा में जितना ही अग्रसर हो सकेगा उसकी प्रामाणिकता प्रखरता और प्रतिभा उसी अनुपात में निखरती चली जायगी । अपूर्णताओं को विकसित

इकबाल की प्रतिभा से प्रभावित होकर अँग्रेज सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि देनी चाही । पर उन्होंने यह कह कर इनकार कर दिया कि जब तक मेरे गुरु को सम्मान नहीं मिलता तब तक मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता ।

सरकार इस कथन से प्रभावित हुई और इकबाल के गुरु मीर हसन को भी 'शुम्स उल-उलेमा' की पदवी से विभूषित किया । इसके बाद ही उनने सर का खिताब स्वीकार किया ।

करना ही जीवन का लक्ष्य है । निर्मल जीवन ही ईश्वर की निकटता को निरन्तर अनुभव करता है । जिसे मर्यादाओं को पालने और वर्जनाओं को बहिष्कृत करने का अभ्यास है । समझना चाहिए कि उसका शौर्य–साहस प्रौढ़ परिपक्वता की स्थिति में जा पहुँचा ।

ऐसे व्यक्ति ही महामानव कहलाते हैं वे कामनाओं को भावनाओं में बदलते हैं । वे क्षुद्रता के दलदल से उबरते और महानता के मानसरोवर में स्नान करते हैं । देवताओं का निवास स्वर्गलोक जैसे किसी दूर क्षेत्र में माना जाता है । पर उस मान्यता की तुलना में प्रत्यक्ष दर्शन का यही अधिक सुस्पष्ट आधार है कि मनुष्यता को सच्चे अर्थों में अवधारण किया जाय तो देवत्व की भूमिका निबाहते हुए इस मनुष्य जीवन को ही अनुकरणीय और अभिनंदनीय स्तर तक विकसित किया जा सकता है । नर नारायण के समुन्नत स्तर तक अपने आपको पहुँचाने के लिए प्रबल प्रयत्न किया जाना इसी प्रकार संभव है । ※

गायत्री साधना एवं ब्राह्मणत्व

जिन्होंने ब्राह्मणत्व की साधना कर ली है, गुण, कर्म, स्वभाव एवं चिन्तन, चरित्र और व्यवहार की दृष्टि से अपने को उत्कृष्ट आदर्शवादिता के साथ जोड़ने की प्रारंभिक जीवन साधना सम्पन्न कर ली है , वे सच्चे अर्थों में ब्राह्मण हैं । ऐसे व्यक्तियों को ही ब्रह्मतेज उपलब्ध करने, सिद्धियों को हस्तगत करने में सफलता मिलती है । उन्हें ही साधारण उपासना तक सीमित न रह कर गुप्त और रहस्यमयी गायत्री साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार मिलता है । ऐसे लोग योग और तप में संलग्न होकर उसका तत्वज्ञान हृदयंगम कर जीवन शोधन कर उसे ऊँचा उठा पाने में सफल होते हैं ।

देवी भागवत में उल्लेख आता है 'ब्रह्मत्वं चेदाप्तुकामऽस्युपास्व गायत्रीं चेल्लोक कामोऽन्यदेवम् ।' आर्यात् जिसे ब्रह्मत्व ब्रह्मतेज प्राप्त करने की इच्छा हो, वह गायत्री महाशक्ति की उपासना करे । जिसे अन्य कामनाओं की ललक हो वह अन्य देवताओं को पूजे ।

गायत्री उपासना से साक्षी बुद्धि–ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है । यही वेदों का सार है । पापों से निवृत्ति और पवित्रता की सिद्धि इसी से मिलती है । ब्रह्म तत्व की उपासना करने वाले के लिए यही साक्षात् ब्रह्म है यह शिरोमणि मंत्र है । इससे बढ़कर तंत्र या पुराण में कोई भी मंत्र नहीं है । इसी ग्रंथ में आगे कहा गया है–

'ब्रह्मण्य तेजो रूपा च सर्वसंस्कार रूपिणी ।
पवित्र रूपा सावित्री वांछति ह्यात्म शुद्धये' ।।

अर्थात्–गायत्री ब्रह्मतेज रूप है, पवित्र एवं संस्कार रूपिणी है । आत्मशुद्धि के लिए उसी की उपासना करनी चाहिए ।

सावित्र्याश्चैव मन्त्रार्थं ज्ञात्वा चैव यथार्थतः ।
तस्या संयुक्त घोपास्य ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

अर्थात्–सावित्री–गायत्री का गूढ़ मर्म और रहस्य जानकर जो उसकी उपयुक्त उपासना करता है , वह ब्रह्मभूत ही हो जाता है ।

सार यह कि गायत्री ब्रह्मरूपिणी है । ब्राह्मणत्व की स्थापना के लिए उसी की उपासना करने का निर्देश देते हुए कहा गया है 'ब्रह्मत्वस्य स्थापनार्थं प्रविष्टा गायत्रीयं तावतास्य द्विजत्वम् । (ब्राह्मणत्व की स्थापना के लिए गायत्री की उपासना करें) इसी से द्विजत्व–दूसरा देव जन्म भी प्राप्त होता है ।

स्कन्द पुराण में महर्षि व्यास का कथन है–

'गायत्रेवतपो योगः साधनं ध्यानमुच्यते ।
सिद्धिनां सामता माता नातः किंचिद् वृहत्तरम् ।।

अर्थात्–गायत्री ही तप है, गायत्री ही योग है, गायत्री सबसे बड़ा ध्यान और साधन है । इससे बढ़कर सिद्धिदायक प्रयोग और कोई नहीं है ।

भगवान मनु भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हुए कहते हैं–'सावित्र्यास्तु परन्नास्ति ।' अर्थात्–गायत्री से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है ।

गायत्री मंजरी में शिवजी कहते हैं–

योगिकानां समस्तानां साधनानातु हे प्रिये ,
गायात्र्येव मतालोके मूलधारा विदोवरैः ।।

अर्थात्–हे पार्वती ! समस्त योग साधनाओं का मूलभूत आधार गायत्री ही है ।

देवल ऋषि के अनुसार गायत्री की उपासना करके ही काश्यप, गौतम, भृगु, अंगिरा, अत्रि, भारद्वाज , वृहस्पति, शुक्राचार्य, अगस्त्य , वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ने ब्रह्मर्षि पद पाया और इन्द्र, वसु, आदि देवताओं ने असुरों पर विजय पाई ।

अथर्ववेद में कहा भी है– 'तदंब्रह्म च तपश्च सप्त ऋषयः उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युय जीवनीयो भवति य एवं वेद ।' अर्थात्–सप्तऋषि ब्रह्मतेज के आधार पर ही प्रतापी हैं । यह ब्रह्मवर्चस् उन्होंने तप के द्वारा ही प्राप्त किया ।

महाभारतकार का स्पष्ट निर्देश है कि–

'परांसिद्धिमवाप्नोति गायत्रीमुत्तमां पठेत ।'

अर्थात्–परासिद्धि प्राप्त करने के लिए सर्व श्रेष्ठ गायत्री को ही जपना चाहिए ।

गायत्री को सर्व सिद्धि प्रदाता कहा गया है । 'गायत्र्या सर्व संसिद्धिर्द्विजानां श्रुति संमता ।' अर्थात् वेद वर्णित सारी सिद्धियाँ गायत्री उपासना से मिल सकती हैं ।

वस्तुतः इस जड़ चेतन जगत में गायत्री ही शक्ति रूप से विद्यमान है । वही सोम और सावित्री भी है । साधना क्षेत्र में इसी को जीवनी शक्ति, प्राण ऊर्जा, कुण्डलिनी शक्ति आदि नामों से पुकारते हैं । ब्रह्मतेज की ब्रह्माग्नि की –ब्रह्मवर्चस् की प्रतिक्रिया है । ब्राह्मी ऊर्जा उपार्जित कर लेने वाले तेजस्वी ही सच्चे अर्थों में ब्राह्मण कहलाते हैं । ब्राह्मणत्व का आधार गायत्री महाशक्ति ही है , ओजस्, तेजस्, एवं वर्चस् की उपलब्धि गायत्री साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने पर ही हस्तगत होती है । ✱

प्रतीकोपासना का मनोविज्ञान

प्रतीकोपासना को भारतीय चिन्तकों ने अपनी साधना पद्धति में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। विभिन्न प्रतीकों के अपनाए जाने के पीछे कुछ मनोविज्ञान के सूत्र सिद्धान्त सन्निहित रहे हैं। शिक्षण की व्यावहारिक विधियाँ रही हैं। इस तत्व को भली-भाँति न समझ पाने के कारण ही तथाकथित उपासक खाली रहते देखे जाते हैं। चिन्तन, चरित्र, व्यवहार एवं गुण, कर्म, स्वभाव में कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता।

वर्तमान में मनोविज्ञान के बढ़ते कदमों ने इसको बहुत कुछ समझने का प्रयास किया है। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के प्रवर्तक कार्लयुंग के अनुसार इन प्रतीकों के द्वारा उस सत्य को प्राप्त करना होता है, जिसकी ओर ये संकेत करते हैं। मनोवैज्ञानिक अर्बन के अनुसार धार्मिक प्रतीकवाद सदैव सार्वभौम सत्य, आस्था और सार्वभौम सौन्दर्य के प्रसंग में प्रयोग किया गया है। उनके अनुसार प्रतीकों की वास्तविक और महत्वपूर्ण उपयोगता सत्य के शिक्षण के लिए है। अध्यात्म शिक्षण की यह एक सर्वसुलभ प्रक्रिया है। इसी कारण उपनिषदों ने इसे 'पराविद्या' कहा है। जहाँ सामान्य शिक्षण अर्थात् "अपराविद्या" से मनुष्य का बौद्धिक एवम् मानसिक विकास होता है। वहीं आध्यात्मिक शिक्षण की जरूरत आत्मिक विकास हेतु है। उपासना इसी की व्यावहारिक प्रणाली है।

सामान्य शिक्षण पद्धति में बालकों को सिखाने के लिए विभिन्न प्रतीकों की आवश्यकता को शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकारा है। विभिन्न खिलौनो गोलियों चित्रों के द्वारा इसी जरूरत की पूर्ति की जाती है। उद्देश्य खिलौने अथवा चित्र नहीं हैं। लेकिन इनके द्वारा दो काम होते हैं। पहला बालक की समूची मानसिक वृत्तियाँ उस पर एकाग्र हो जाती हैं। इस एकाग्रता के बाद उसे उस चित्र अथवा खिलौने के द्वारा गिनती अथवा वर्णमाला के किसी अंश का बोध कराया जाता है। इस विधि से वह अंश सहज ही हृदयंगम हो जाता है।

ठीक यही बात आध्यात्मिक शिक्षण में है। विभिन्न खिलौनों चित्रों की तरह इसमें भी अनेक तरह के प्रतीकों को व्यवहार में लाया जाता है, इनकी भिन्नता रुचि अथवा मनोभूमि की भिन्नता के आधार पर है। जिस प्रकार कोई बालक कबूतर वाली 'क' को जानता है तो कोई कलम वाली 'क' को। बात कबूतर और कलम की नहीं है। ये तो सिर्फ माध्यम हैं। इनके स्थान पर ककड़ी करेला को भी चुना जा सकता है। उद्देश्य 'क' शब्द का बोध कराना है। प्रत्येक की रुचि मनोभूमि को ध्यान में रखकर उसे सत्य का बोध करा दिया जाय, यही प्रतीक की उपयोगिता है।

मन का एक स्वभाव है। जिससे वह अनुराग करता है उसे साक्षात् देखना चाहता है। मानव की सबसे प्रबल वृत्ति रागात्मिका वृत्ति है। इसकी विशेषता यहीं है कि यह व्यक्त आधार चाहती है। यही कारण है कि विश्व के जो धर्म सम्प्रदाय प्रतीक पूजा का निषेध करते हैं, उनमें भी किसी न किसी तरह प्रतीकोपासना आ गई है।

ईसाई जानते हैं कि क्रास का चिन्ह सिर्फ लोहे का प्रतीक भर है। ठीक इसी तरह ईसा का चित्र भी। पर इसके प्रति आदर ईसा मसीह के प्रति आदर माना गया है। जीव की अपनी कोई आकृति नहीं पर सारे शरीरों में वही है, अतएव उसी की ये सब आकृतियाँ हैं। उसके न रहने पर इनका रहना भी मुश्किल है। जब ईश्वर के अंश जीव के ये सब रूप हैं तो उसके अंशी की ये सब आकृतियाँ क्यों नहीं हो सकती हैं? आखिर ये सभी आकृतियाँ प्रतीक ही तो हैं। ये सब किसी न किसी तरह उस सत्य की ओर इंगित करती हैं। जिस तरह अग्नि की तमाम चिनगारियों के आकार प्रकार भिन्न होते हैं। हो सकता है इनकी बाहरी रचना में कोई ताल मेल न हो। व्यापक अग्नि की कोई आकृति नहीं। पर किसी भी चिनगारी को पा लेने से व्यापक अग्नि के सभी गुण-प्रभाव आदि की जानकारी होना स्वाभाविक है।

मानव स्वयं साकार है। वह अपने आप में विभिन्न गुणों वृत्तियों के समुच्चय तथा एक विशिष्ट अवस्था का प्रतीक है। साकार वृत्तियों को ग्रहण करना मानवीय हृदय की विशेषता है। ज्योति का ध्यान, शब्द का ध्यान भी एक प्रकार के प्रतीक का ही ध्यान है। जब एक प्रकार के खुद के मनोनुकूल प्रतीक को सहज मान लिया जाता है, तो दूसरे प्रकार

जो किसी दूसरे के मनोनुकूल हैं मान लेने में आपत्ति क्यों ?

सभी जगह व्याप्त तत्व तो प्रत्येक आकार में है। यदि किसी आकार में सुविधाजनक रीति से मनको तल्लीन किया जा सके तो हृदय की एकाग्रता में उसकी प्राप्ति हो जाएगी। किसी को अग्नि के बारे में बताने के लिए पंच महाभूतों में से एक सर्वत्र व्याप्त निराकार का उपदेश झाड़ने की जगह उसके सामने एक दहकता अंगारा रख देना ज्यादा उत्तम है। इस तरह अग्नि के प्रकाश, ताप आदि का भाव समझ लेने पर उसके निराकार रूप की भी धारणा हो जाएगी। इसी तरह जो ईश्वर को मनकी एकाग्रता में किसी भी आकार में साक्षात कर लेगा, उसे उसके निराकार रूप को समझने में कोई बाधा न होगी।

इस बात को साधना की वैज्ञानिक प्रणाली बताने वाले महर्षि पांतजलि ने भी स्वीकारा है। उनके सूत्र "यथामिमतृध्यानाद्वा" अर्थात् – अभीष्ट ध्यान चित्त की एकाग्रता को पूर्ण कर देता है। इससे स्पष्ट है कि उपासना की साकार विधि बाहर मूर्ति के रूप में होती है। कारण कि अनुराग के लिए बाहरी प्रतीक की जरूरत है। विभिन्न देशों के झण्डे महापुरुषों के चित्र इसी मानवीय स्वभाव के द्योतक हैं। बिना प्रतीक के भावाभिव्यक्ति किस आधार पर हो।

संसार में हम पाते हैं कि व्यक्त आधार के बगैर न तो अव्यक्त की प्राप्ति होती है और न ही उसके प्रति भाव व्यक्त किया जा सकता है। अव्यक्त अग्नि की प्राप्ति लकड़ी आदि व्यक्त माध्यमों से होती है। ध्वनि तरंगें भी पशु–मनुष्य वाद्य रेडियो आदि व्यक्त आधारों से ही मिलती हैं। हम अपने माता–पिता गुरुजनों की सेवा करते हैं। सभी को मालूम है कि शरीर जड़तत्वों का बना है। इन जड़ तत्वों की सेवा हम करना नहीं चाहते। उसमें जो चेतन है उसके प्रति भावों को व्यक्त करने उसकी सेवा करने का आधार इस शरीर के अलावा और क्या है ? सभी स्वीकारते हैं कि माँ–बाप एवं गुरुजनों की सेवा करनी चाहिए। उनसे यदि सवाल किया जाय कि सेवा किसकी शरीर की या जीव की ? इसका एक ही जवाब होगा शरीर में निहित चेतन तत्व की। शरीर की भक्ति करनी हो तो मरने के बाद जलाने दफनाने की क्या जरूरत ? इस सवाल का जवाब कोई आलोचक नहीं दे सकता है कि शरीर और उसकी आकृति को छोड़कर किसी पितृ भक्त के मन में किसी और चीज का उदय हुआ है या हो सकता है फिर पिता की सेवा के लिए शरीर सेवा के अलावा और क्या है ?

उपासना मार्ग में इसी कारण प्रतीकों को स्वीकारा गया है। इन्हें मुख्यतः तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम शब्द प्रतीक जैसे ओम् आदि द्वितीय विभिन्न आकृतियाँ जैसे स्वस्तिक, क्रास, तालाब में स्थिर कमल तीसरे प्रकार के प्रतीक विभिन्न मानवीय मूर्तियों के रूप में होते हैं।

पहले प्रकार के शब्द प्रतीक समूचे ध्वनि समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इतना ही नहीं शब्द को आकाश का गुण माना गया है। अतएव इन सभी का संकेत विशालता–व्यापकता की ओर है। विभिन्न आकृतियों जैसे स्वास्तिक के चारों कोनें जीवन विकास की चार अवस्थाओं जन्म, जीवन, मृत्यु और अमरत्व को प्रदर्शित करते हैं। भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने इसे चार आधारभूत मानसिक प्रक्रियाओं संवेदना, भाव, विचार और अन्तर्दृष्टि का भी प्रतीक माना है। इसी तरह क्रास की चार नोकों में तीन पिता, पुत्र, पवित्रात्मा की प्रतीक और

> ***जैसे जैसे हम सचमुच ज्ञानवान होते जाते हैं वैसे–वैसे उदारता बढ़ती जाती है।***

चौथा व्यक्तित्व का छाया भाव है। बौद्ध धर्म में तालाब में शान्त स्थिर कमल, जिस पर जल स्वयं फिसल जाता है और रात में अपनी पंखुड़ियां समेट लेता है, मनकी उस अवस्था का द्योतक है जिसमें मानव के मानसिक जीवन के तीनों स्तर समन्वित होते हैं।

तीसरे प्रकार की प्रतीक मूर्तियाँ हैं। सी. जी. युंग ने "साइकोलाजी एण्ड रिलीजन" में इन्हें "अज्ञात मन की दैव भाव प्रतिमा" बताया है। उसके अनुसार ये अन्य प्रकार के प्रतीकों की अपेक्षा अत्यधिक शक्तिशाली हैं। इसकी अनुभूति में देवत्व सम्बंधी गुण आ जाता है। उनके अनुसार यह जन्मजात अज्ञात मन की भाव प्रतिमा बड़ी शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक है। ईश्वर हमसे अलग नहीं है अभ्यन्तर में है। जो अभ्यन्तर में है व्यक्ति उससे विमुख नहीं हो सकता न ही वहिष्कृत कर सकता है। प्रतिमा के द्वारा अज्ञात मन के इस क्षेत्र तक पहुँचा जाता है उन गुण और शक्तियों को जाग्रत किया जाता है। यह जागरण ही प्रतिमा जागरण है। प्रतीकोपासना का उद्देश्य यही है। इसका मनोविज्ञान मूलतः यही है।

*

नीतिमत्ता की जीवन में महत्ता

आत्मिक और भौतिक दोनों ही स्तर की प्रगति में नैतिकता के तत्वों का समावेश आवश्यक है, क्योंकि कोई व्यक्ति इसी कसौटी पर अपने आपको प्रामाणिक सिद्ध करता है। यह प्रामाणिकता ही लौकिक क्षेत्र में जन विश्वास और जन सहयोग अर्जित करती है। आत्मिक क्षेत्र में इसी आधार पर आत्म संतोष और दैवी अनुकंपा का अधिकारी वह बनता है। स्वर्ग-मुक्ति आदि में भी इसी प्रवृत्ति की प्रधान पृष्ठभूमि रहती है।

व्यक्ति के जीवन में जितना महत्व शिक्षा का है, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण स्थान नैतिकता का है, नैतिक गुणों के बिना मनुष्य का सर्वांगीण विकास संभव नहीं। इसके अभाव में कोई भी शिक्षा उदात्त भावना और उत्कृष्ट चिन्तन का व्यक्ति बनाने में सदा असफल रहेगी। कोई भी व्यक्ति एक अच्छा समाजनिष्ठ नागरिक तभी बन सकेगा जब उसे आरंभ से नैतिक तत्वों-शाश्वत मूल्यों की जानकारी होगी। ऐसा शिक्षण ही विद्यार्थी को स्वावलम्बी, सहिष्णु, सदाचारी, संयमी, कर्तव्यपरायण, प्रामाणिक तथा परोपकारी बना सकता है। नैतिकता का अवलम्बन ही मनुष्य को सुसंस्कृत, आदर्श और चरित्रनिष्ठ नागरिक बना सकता है। ऐसे व्यक्ति स्वयं ऊँचे उठते, आगे बढ़ते हैं तथा अपनी विशिष्टता एवं वरिष्ठता के सहारे इस विश्व उद्यान को सुरभित समुन्नत रख सकते हैं। नीतिमत्ता का सार संक्षेप भी यही है।

"द गेन आफ परसनालिटी" नामक पुस्तक में सुप्रसिद्ध नीतिशास्त्री डब्ल्यू. सी. लुसमोर ने नैतिक नियमों के निश्चय निर्धारण के लिए ज्ञानोपार्जन को अत्यावश्यक माना है। उनका कहना है कि ज्ञानार्जन के लिए व्यक्ति को चिन्तनशील-विवेकशील होना चाहिए। सिद्धान्तों को व्यवहार में उपयोग करते समय सतत् चिन्तन आवश्यक है, चिन्तन-मनन के बिना कोई मनुष्य अपने लिए स्थिर नैतिक सिद्धान्तों का निर्धारण नहीं कर पाता और समाज की दिशाधारा के प्रवाह में बह जाता है। उनके अनुसार चिन्तन जीवन का सैद्धान्तिक पक्ष है। उसका व्यावहारिक पक्ष श्रेष्ठ कार्यों के रूप में परिलक्षित होता है। विचार मन्थन से जो सिद्धान्त निर्धारित हों उनको सत्यता की कसौटी के लिए व्यावहारिक क्षेत्र में उतारना होता है। उच्च आदर्शों व नैतिक सिद्धान्तों का व्यवहार में आना ही नैतिक जीवन है। सिद्धान्तों के कार्यान्वयन के लिए क्रियाशीलता -गतिशीलता नैतिक जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। संसार के सभी महापुरुष जीवन भर क्रियाशील रहे अनवरत श्रम-साधना करते रहे हैं। औसत नागरिक की तरह-सादगी भरा जीवन निर्वाह करते तथा उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श चरित्र की गौरव गरिमा बनाये रहे हैं। पवित्रता एवं प्रखरता पर आधारित व्यक्तित्व ही समर्थ बनता है। व्यक्तिवादी संकीर्ण चिन्तन सर्वथा एकांगी है। नीतिमर्यादा का पालन करने वाला आदर्शवादी व्यक्ति आत्मकल्याण की साधना के साथ-साथ समाज की भी भलाई करता है। वह समाज के लोगों से सहानुभूति रखता है और उन्हें अपने उत्कृष्ट विचारों एवं श्रेष्ठ व्यवहार से निरन्तर ऊँचा उठाने का प्रयास करता है।

इंग्लैण्ड के प्रख्यात नीतिशास्त्री एफ. एच. ब्रेडले का कहना है-"मनुष्य अपने व्यक्तित्व को समाज में जितना ही अधिक घुला-मिला देता है उतना ही अधिक उसको नैतिक रूप से विकसित मानना चाहिए। वस्तुतः सामाजिकता से पृथक् मनुष्य की नैतिकता का मूल्य एवं उपयोगिता ही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को सर्व प्रथम अपने आचरणों में नीतिमत्ता का समावेश करना चाहिए एवं सामान्य जीवनयापन की रीति-नीति को इसके लिए सर्वोत्तम मानना चाहिए। नैतिक जीवन का विकास करने के लिए संकुचित संकीर्ण नियम अथवा विचारधारा की अपेक्षा व्यापक उदार नियमों को अपनाना अधिक उत्तम है, चाहे वे व्यापक नियम अपने देश, धर्म, समाज के हों अथवा किसी अन्य के द्वारा प्रतिपादित।

वैयक्तिक जीवन में जिसे नीतिमत्ता कहते हैं, वही सामूहिक रूप में विकसित होने के उपरान्त सामाजिक सुव्यवस्था बन जाती है। प्रगति और समृद्धि की, सुख और शान्ति की आधार शिला इसी पृष्ठभूमि पर रखी जाती है। पारिवारिक, सामाजिक, का मर्यादाओं का परिपालन

तथा श्रेष्ठ जीवन जीने की कला का मूल आधार नैतिकता को ही माना जा सकता है। इसके अभाव में राष्ट्रीय चरित्र का विकास नहीं हो सकता। कानून के प्रति यदि आस्था न हो तो कितने ही कानून बना दिये जायँ इन सबकी पकड़ से बाहर जा सकने में आज का चतुर इन्सान समर्थ है। वर्तमान स्थिति यही है। अनैतिक आचरण मानव को भ्रष्टाचार के दल-दल में धकेलने में सतत् प्रयत्नशील है। नैतिकता की दुहाई देने वाले एवं अपने को उसका संरक्षक बताने वाले लोग भी उच्छृंखल भोगवाद में लिप्त देखे जाते हैं। अनीति पूर्ण उपार्जित अवांछित धन आज समाज में उत्पीड़न, शोषण, घृणा, द्वेष, कलह, युद्ध, रक्तपात, बेईमानी, मिलावट, रिश्वत, आदि अनेकों बुराइयों का कारण बना हुआ है। उद्धत अपराधों की तरह संकीर्ण स्वार्थपरता भी तत्वदर्शियों द्वारा अनीति ही मानी गई है अतः यह देखा जाना चाहिए कि अनैतिकता ने व्यक्तिगत रुझान और सामुदायिक प्रचलन में कितनी गहरी जड़ें जमाई हुई हैं। इन्हें उखाड़ने के लिए उतनी ही गहरी खुदाई करने की आवश्यकता पड़ेगी और उसके स्थान पर आदर्शवादी रीति-नीति की स्थापना करनी पड़ेगी।

विद्वान नीतिशास्त्री बेन जानसन का कथन है कि 'सचमुच धन से कोई धनी नहीं बन सकता वरन् नैतिकता ही मनुष्य की वास्तविक पूँजी है, कठोपनिषद में स्पष्ट है कि 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' अर्थात्-धन संग्रह से मनुष्य को शान्ति नहीं मिल सकती, धन तो परोपकार के लिए होता है। वस्तुतः नैतिकता समस्त स्वार्थी प्रवृत्तियों को मिटा देती है। नीतिशास्त्र एक ऐसा ज्ञान है जो नर से नारायण के विकास की कड़ी को पूरा करता है। यह प्रक्रिया किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय श्रृंखला पर आधारित नहीं है और न ही किसी विशेष जाति के विशिष्ट सिद्धान्तों पर आधारित है। इसका मूल आधार तो वेदान्तीय शिक्षा का सूत्र पूर्ण निस्वार्थपरता का है। एथिक्स को महापुरुषों ने अपने जीवन का आधार माना है। विख्यात जर्मन दार्शनिक कांट की नैतिकता में दृढ़ आस्था थी। उनके अनुसार नैतिक अनुभव के द्वारा ही मनुष्य अनुभवात्मक आत्मा से ऊपर उठकर परात्पर आत्मा को प्राप्त कर सकता है और दृश्यमान जगत से परे परमार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। प्लैटो ने नैतिकता को आत्मिक गुणों के विकास एवं आन्तरिक सफलता की कुँजी माना है।

नीति क्या है? इसका उत्तर उतना सरल नहीं है जितना कि समझा जाता है। उसका स्वरूप कई विचारक कई तरह प्रस्तुत करते हैं। प्रसिद्ध नीतिशास्त्री सिज्विक ने अपने ग्रन्थ "मेथड आफ एथिक्स" में लिखा है कि सत्य बोलना अपरिहार्य नहीं है। राजपुरुषों को अपनी गविविधियाँ गुप्त रखनी पड़ती हैं। व्यापारियों को भी अपने निर्माण तथा विक्रय के रहस्य छिपाकर रखने पड़ते हैं। अपराधियों को पकड़ने के लिए जासूसी की कला नितान्त उपयोगी है। इसमें दुराव और छल का प्रश्रय लिया जाता है। इसलिए नीति का आधार सचाई को मानकर नहीं चला जा सकता। अधिक लोगों के अधिक सुख का ध्यान रखते हुए नीति का निर्धारण होना चाहिए।"

एक साँप ने नारद जी से दीक्षा लेकर लोगों को काटना बंद कर दिया। वह सड़क के किनारे ही रहता था। बूढ़ा भी हो चला था।

बच्चे उसे पानी का साँप समझ कर छेड़ते, मारते, और हैरान करते पर वह नारद जी की शिक्षा के अनुरूप किसी से बदला तो नहीं लेता था पर दुखी अवश्य रहता था।

एक दिन फिर नारद जी उधर से गुजरे। साँप ने उनसे दीक्षा लेने के बाद जो दुर्गति सहनी पड़ रही है उसका विवरण सुनाया।

नारदजी ने कहा मैंने काटने के लिए मना किया था। फुसकारने के लिए नहीं। अब फुसकारना आरंभ करो लोग डरेंगे तो फिर तुम्हें नहीं सतायेंगे।

लेस्ले स्टीफन ने अपने ग्रंथ "साइन्स आफ एथिक्स" में लिखा है कि "किसी के कार्य के स्वरूप को देखकर उसे नीति या अनीति की संज्ञा देना उचित नहीं। कर्ता की नीयत और कर्म के परिणाम की विवेचना करने पर ही उसे जाना जा सकता है।"

वस्तुतः नैतिकता का संबंध जीवन के समग्र स्वरूप से है। कोई व्यक्ति एक विषय में नियमों का परिपालन करे और अन्य विषयों में अनीति बरते तो उसे न धार्मिक कहा जा सकता है, न आस्तिक न नैतिक। हमारा चिन्तन, चरित्र और व्यवहार आदर्शों से ओत प्रोत हो। न केवल व्यक्तिगत जीवन में संयम सदाचार बरतें वरन् अन्यान्यों के प्रति भी हमारा उदात्त दृष्टिकोण रहे, तभी उसे समग्र नैतिकता कहा जा सकता है। *

ठोस एवं सुनिश्चित प्रगति का राजमार्ग

साधनों के सहारे सफलता प्राप्त होने की बात पर सभी विश्वास करते हैं पर यह भूल जाते हैं कि मनुष्य की अपनी निजी सत्ता में भी ऐसी विभूतियाँ पड़ी हैं जो विपुल साधनों की तुलना में किसी भी प्रकार ओछी नहीं पड़तीं । उन्हें यदि समझा और उभारा जा सके तो साधनों का अभाव किसी प्रकार खलने नहीं देतीं । उनके सहारे व्यक्ति प्रगति के विपुल साधन समय-समय पर पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करता रह सकता है ।

आवश्यक नहीं कि व्यक्ति के पास निजी संग्रह सम्पदा ही बड़ी मात्रा में हो । दूसरों के सहयोग से भी पूँजी के अभाव की पूर्ति हो सकती है । कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं जिनके पास पर्याप्त धन है, वे दूसरों को उधार देकर उसके माध्यम से ब्याज या मुनाफा कमाना चाहते हैं किन्तु सहयोग देने से पूर्व यह भली भाँति जाँच पड़ताल करते हैं कि जिसके हाथ में पैसा दिया जाय वह वापस करेगा या नहीं ? ब्याज या लाभ अर्जित कर सकेगा या नहीं ? ऐसे प्रसंगों में उस व्यक्ति का व्यक्तित्व अनेक रीति से यहाँ जाँचा परखा जाता है कि जिसे सहयोग दिया जाता है वह इसका पात्र भी है या नहीं । पात्रता और प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा सिद्ध होने के उपरान्त व्यक्ति को अनेक सहयोगी ऐसे मिल जाते हैं जो आर्थिक उपार्जन करा सकते हैं । उनकी चतुरता काम नहीं आती वरन् भलमनसाहत काम देती है । इसके लिए वाणी में आत्मीयता और सज्जनता का समावेश होना चाहिए । बहुत बोलना, लच्छेदार बातें करना आवश्यक नहीं । इसमें तो धूर्तता-बनावट और ठगी की गंध होती है । संक्षेप में सीधी किन्तु सही बात कहने पर उससे कहीं अधिक प्रयोजन सिद्ध होता है, जितना कि चतुरतापूर्ण लच्छेदार बातों से । ऐसा कथन रोचक आकर्षक तो लगता है किन्तु साथ ही यह भय भी बना रहता है कि वाक्‌जाल में फँसा कर कहीं ठगा तो नहीं जा रहा है ।

वाणी में नम्रता होनी चाहिए । साथ ही मिठास भी । दूसरों को अपना बनाने के लिए आत्मीयता का वचन में ही नहीं व्यवहार में भी समावेश होना चाहिए । आत्मीयता स्वाभाविक होती है । इसमें उदारता सम्मिश्रित रहती है । सज्जनता ऐसी विधा है जो वचन से तो कम किन्तु व्यवहार से अधिक परखी जाती है । मीठे वचन बोलने की कला में कई चापलूस और ठग भी बहुत प्रवीण होते हैं पर यह कौशल हर किसी पर प्रभावी नहीं होता । जादू के खेल देख कर छोटे बच्चे ही चमत्कृत होते हैं किन्तु जो बड़े एवं समझदार हैं वे समझते हैं कि यह सब हाथ की सफाई मात्र है । इसी प्रकार व्यवहार का समग्र परिचय प्राप्त किये बिना यह नहीं जाना जा सकता कि किसकी सज्जनता वास्तविक है किसकी अवास्तविक ? इसकी जाँच पड़ताल करने के लिए किसी की पिछली जीवनचर्या खोजनी पड़ती है और देखना यह भी पड़ता है कि इन दिनों उसका व्यवहार अपने परिवार, पड़ोस एवं सम्पर्क क्षेत्र में किस स्तर का है । जिस प्रकार कोई व्यक्ति मुखौटा पहन कर अपनी मुखाकृति को स्थायी रूप से नहीं बदल सकता । इसी प्रकार व्यवहार कुशलता में चापलूसी भर लेने मात्र से कोई व्यक्ति सज्जन नहीं बन सकता ।

> *महिला सन्त राबिया अपने पूजा स्थल पर एक जल कलश रखती थीं । और एक जलता अंगारा भी ।*
>
> *लोग इन पूजा प्रतीकों का रहस्य पूछते तो वे कहतीं मैं अपनी आकांक्षाओं को पानी में डुबाना चाहती हूँ और अहंकार को जलाना चाहती हूँ । ताकि पतन के इन दोनों अवरोधों से पीछा छुड़ा कर प्रियतम तक पहुँच सकूँ ।*

जिसमें मूलतः सज्जनता का गुण नहीं है , वह बनावटी चापलूसी को देर तक छिपाये नहीं रह सकता । प्रकट होने पर परिचयकर्ता को दुहरा क्षोभ होता है । अवांछनीय व्यक्ति अपने दुर्गुणों को अनायास ही प्रकट करते रहते हैं । उनके दुर्गुण सहज स्वभाव में प्रकट होते रहते हैं । हर कोई उसका स्तर जान लेता है और खतरे से सावधान रहता है । इसके विपरीत जो

अपनी दुर्जनता को मुखौटे के नीचे छिपाकर कुछ के बदले कुछ दीखने का प्रयास करता है उसकी कलई खुलने पर दुष्टता और धूर्तता का दुहरा आरोप लगता है । ऐसे व्यक्ति से लोग सहज ही सतर्क हो जाते हैं और उसका भरोसा सामान्य बातों में भी नहीं करते । फिर सहयोग देने जैसा प्रश्न तो उठता ही नहीं । ऐसे व्यक्ति दरिद्र रहने पर सदा वैसे ही बने रहते हैं उन्हें दूसरे समर्थ व्यक्तियों का ऐसा सहयोग नहीं मिलता जिसके सहारे वे अपने अभावों की पूर्ति कर सकें । निजी साधनों के अभाव में दूसरों के साधनों से अपना काम चला सकें ।

यह संसार पारस्परिक सहयोग के आधार पर खड़ा है । व्यापार, परिवार, समाज, राजनीति धर्म, कला आदि के क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति एकाकी प्रवीण पारंगत या सफल नहीं बनता । उसे अन्य अनेकों की सहायता अपेक्षित होती है । जिसे इस सन्दर्भ में जितने सहयोग का सुयोग मिल जाता है वह उसी अनुपात से प्रगति करता एवं सफल होता है । जिसे इस सन्दर्भ में जितनी कमी रहती है वह उतना ही पिछड़ जाता है और उसी अनुपात में असफल रहता है ।

संसार में ऐसे अगणित व्यक्तियों के उदाहरण हैं जो गई बीती परिस्थितियों में जन्मे । पारिवारिक स्थिति गई गुजरी थी । निजी साधनों का सर्वथा अभाव रहा फिर भी वे ऊँचे उठे और समयानुसार उन्नति के उच्चशिखर पर पहुँचे । ऐसा चमत्कार कैसे हो सका ? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करने पर एक ही कारण उभर कर सामने आता है कि उनने अपने सामान्य कार्य क्षेत्र में असाधारण श्रमशीलता, प्रामाणिकता और वफादारी का परिचय दिया । फूल खिलता है तो उसकी महक दूर-दूर तक फैलती है । उसकी शोभा बढ़ाने यश गाने के लिए तितली भौंरे, मधु-मक्खी, गुजरने वाले दर्शक मोहित होते और बखान करते रहते हैं । यह उभरती प्रतिभा दूर-दूर तक पहुँचती है । व्यक्ति के साथ लिपटी रहने के कारण जहाँ भी पहुँचना होता है वहीं विश्वास का वातावरण उत्पन्न करती है । फल यह होता है कि सद्‌गुणों से विश्वास और विश्वास से सहयोग मिलने लगता है । दूसरों का सहयोग भी निजी साधनों के समान ही उपयोगी सिद्ध होता है और प्रगति प्रयोजनों में असाधारण रूप से कारगर सिद्ध होता है ।

जो पिछड़ी परस्थितियों में जन्मने पलने के उपरान्त आजीवन वैसी ही गई गुजरी परिस्थितियों में फँसे रहे उनका कारण एक ही है कि आरंम्भिक पिछड़ापन स्वभाव, चिन्तन और चरित्र व्यवहार का अंग बन कर उसी घटिया स्तर को बनाए रहा । सुधार का कोई प्रयत्न न बन पड़ा । परिष्कार का कोई प्रयत्न न हुआ । फलतः जहाँ भी सम्पर्क सधा वहाँ घृणा, उपेक्षा और अवमानना ही प्रतिक्रिया बन कर प्रकट हुई । दया वश किसी ने कभी कोई टुकड़ा फेंक दिया हो तो वह दूसरी बात है किन्तु ठोस और महत्वपूर्ण सहयोग करने के लिए कोई विचारशील तैयार नहीं होता क्योंकि बुद्धिमत्ता द्वारा यह सहज ही समझ लिया जाता है कि दलदल में डाली गई कोई वस्तु उसी में फँस कर रह जाती है । न वह स्वयं उबरती है और न दूसरों को उबारती है ।

बापू ने देश के लिए नवयुवकों का आव्हान किया । कितने ही कालेजों और नौकरियों का परित्याग करके आये । विभिन्न रचनात्मक कार्यों में लगा दिया गया । इन्हीं में एक युवक था मधुकर । इसे पन्तपुर कुष्ठाश्रम में सेवा करने के लिए लगा दिया गया ।

यह मान्यता थी भारत में ऊपर से नीचे तक । अब ऊँच नीच और छूत छात की भावना भरी है । सेवा कार्यों में वे हेटी समझते हैं । ईसाई मिशन के अतिरिक्त कुष्ठ जैसे गंदे रोगों के रोगियों की सेवा करने के लिए कोई तैयार नही होता। मधुकर जी ने इस मान्यता को गलत सिद्ध करके दिखा दिया ।

मधुकर जी बापू द्वारा सोचे गये उस काम में पूरी तरह रम गये । उनके प्रयास से एक से बढ़कर अनेक कुष्ठाश्रम चले और उनमें अच्छे होकर कितने ही रोगी निरोग तथा स्वावलम्बी बने ।

व्यक्तित्व एक चुम्बक है जो अपने स्तर की वस्तुओं को खींचता और इर्द-गिर्द जमा करता है , चिन्तन, चरित्र, व्यवहार और स्वभाव विनिर्मित करना मनुष्य के अपने हाथ की बात है जो अपने व्यक्तित्व को निखार सकता है । उसे दूसरों का विश्वास अर्जित करने में देर नहीं लगती है । विश्वासी को सहयोग मिलता ही है । सहयोग एक पूँजी है जो अपने निज की सम्पदा की तरह काम आती है । बैंक से ऋण लेकर भी अपना उद्योग चलाया जा सकता है । दूसरे समर्थजनों के स्नेह, परामर्श एवं सहयोग से भी प्रगति पर बढ़ चलने का अवसर मिल सकता है । छोटी स्थिति से ऊँचे बढ़ सकने में जो सफल हुए हैं उन्होंने अपने स्तर को उठाया और समर्थों का सहयोग पाया है । यह मार्ग हर किसी के लिए खुला हुआ है । ✳

स्मरण शक्ति की कुंजी अपने हाथ में

भुलक्कड़ लोगों को प्रायः यह शिकायत रहती है कि उनकी स्मरण शक्ति कमजोर है, इसी कारण कोई भी बात देर तक याद नहीं रह पाती पर कई बार विकसित मस्तिष्क में भी यह कमी नजर आती है, तब अचम्भा होता है कि आखिर यह विरोधाभास कैसा ? इतनी विकसित बुद्धि और विस्मृति —दोनों साथ-साथ कैसे रह सकती हैं । निश्चय ही कारण कुछ और है । यह तथ्य तब और अधिक स्पष्ट हो जाता है, जब भुलक्कड़ विद्वानों , वैज्ञानिकों और मनीषियों का प्रसंग सामने आता है ।

प्रसिद्ध विद्वान और व्याकरण के मर्मज्ञ पंचानन मिश्र के बारे में कहा जाता है कि वे तो अपनी पत्नी और उनसे हुए विवाह को भी भूल गये थे । उन्हें यह तक याद नहीं रहा कि कभी उनका विवाह भी हुआ था । हुआ यों कि एक बार वे प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ "भामती " की रचना में संलग्न थे । कई महीनों से वे इस कार्य में लगे हुए थे । प्रतिदिन सुबह से शाम तक वे इसी में व्यस्त रहते । भोजन रख दिया जाता तो वे भोजन कर लेते नहीं तो अनवरत लगे रहते थे । एक दिन शाम देर तक वे ग्रन्थ लेखन में लगे रहे , तो पत्नी भामती आयी और भोजन कर लेने का निवेदन किया । उन्होंने आश्चर्य में पड़ते हुए उत्तर देने के स्थान पर प्रश्न किया "आप कौन हैं ? " जब पत्नी ने जबाव दिया कि वह उनकी पत्नी है, तो पुनः दूसरा सवाल हुआ "हम दोनों की शादी कब हुई थी ? " आज से चार वर्ष पूर्व । इस उत्तर के बाद जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि सचमुच ही वे उनकी पत्नी हैं, और तब से सतत् निष्काम सेवा कर रही हैं, उनने अपने ग्रन्थ का नामकरण अपनी पत्नी के नाम पर ही कर दिया । यह भूल का परिमार्जन व सेवा का पुरस्कार था ।

प्रसिद्ध कवि निराला के बारे में भी एक ऐसा ही प्रसंग है । एक दिन वे लीडर प्रेस से रायल्टी के पैसे लेकर महादेवी वर्मा के पास चले जा रहे थे । ठंड का समय था । अभी थोड़ी ही दूर गये थे कि सड़क के किनारे सर्दी से काँपती एक बुढ़िया दिखाई पड़ी, जो याचक भाव से उन्हीं को देख रही थी । उन्हें उस पर दया आ गई । उन्होंने न सिर्फ रायल्टी के सारे पैसे उसे दे दिये, वरन् ठंड निवारण के लिए अपना कोट भी निकाल कर उसके ऊपर रख दिया और महादेवी के घर चल दिये, किन्तु चार दिन बाद वे यही भूल गये कि उनका कोट क्या हुआ ? उसे ढूँढ़ते हुए महादेवी के आवास पर पहुँचे, जहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्होंने तो अपना कोट दान कर दिया है ।

विद्वान दार्शनिक हक्सले यदा-कदा यह बिल्कुल ही भूल जाते थे कि घर से किस प्रयोजन के लिए वह निकले थे और जाना कहाँ था । एक बार वे अपने शहर से दूर किसी अन्य शहर के एक समारोह में आमंत्रित थे । ट्रेन वहाँ देर से पहुँची । तब तक स्टेशन पर आये अगवानी करने वाले लोग जा चुके थे । दार्शनिक महोदय बाहर खड़े एक ताँगे में सवार हुए और चल पड़े । कुछ दूर जाने के बाद ताँगे वाले ने जब उनसे पूछा कि जाना कहाँ है ? तो वे असमंजस में पड़ गये । बहुत स्मरण किया पर याद नहीं आया कि जाना कहाँ है ? अन्ततः वे उसी ताँगे से स्टेशन लौट आये और वापसी वाली गाड़ी से घर चले गये ।

इसी प्रकार प्रख्यात अमरीकी विद्वान ड्वाइट मारो के बारे में विख्यात है कि एक बार वे रेल में सफर कर रहे थे । गाड़ी के कुछ मील आगे बढ़ने पर टिकट चेकर आया और उनसे टिकट दिखाने का आग्रह किया । मारो महाशय ने अपने कोट-पैंट की जेबें टटोलीं सारा सामान उलट-पुलट डाला पर टिकट नहीं मिला । टिकट चेकर उन्हें भली भाँति जानता था । उसने कहा "परेशान न हों मुझे पूरा विश्वास है कि आप बिना टिकट यात्रा नहीं कर सकते । नहीं मिला तो कोई बात नहीं पर यदि मिल जाय, तो हमें दिखा दें ।" उन्होंने कहा-"शायद वह टिकट अब न मिले अतः आप मुझे दूसरा टिकट बना दें , क्योंकि गेट पार करने के लिए टिकट जरूरी है । यहाँ आप छोड़ देंगे, तो बिना टिकट वहाँ पकड़ा जाऊँगा ।" अन्ततः दूसरे टिकट पर ही उनने यात्रा की और गन्तव्य तक पहुँचे । आश्चर्य है कि इस प्रकार की यह पहली घटना नहीं थी । उनके साथ अक्सर ऐसा हो जाता था । कई बार तो वे अपना बहुमूल्य सामान ही भूल जाते

थे। इसी कारण से बाद में यात्रा के दौरान अपने नौकर को भी साथ रखने लगे। टिकट और सामान उसी के जिम्मे रहता।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन भी इस विस्मृति–दोष से नहीं बच सके। एक बार वे टहलने के लिए निकले। जब लौटे, तो इतने थक चुके थे कि कुछ आराम की आवश्यकता महसूस की, पर वे इस समय किसी चिन्तन में इतने लीन थे कि यही याद नहीं रहा कि वाकिंग स्टिक को बिस्तर पर रख कर उसकी जगह स्वयं कोने में खड़े हो गये हैं। बाद में गलती का बोध तब हुआ, जब उनकी पत्नी ने उन्हें यह एहसास कराया।

दूसरी ओर छोटी आयु के बालक और साधारण मस्तिष्क वाले व्यक्ति भी कई बार ऐसी विलक्षण स्मृति का प्रदर्शन करने लगते हैं, जिसके कारण उन्हें असाधारण स्मृति का धनी समझा जाने लगता है।

स्काटलैण्ड के जमील मोगल नामक बालक ने पाँच वर्ष की उम्र से कुरान कंठाग्र करना प्रारंभ किया और तीन साल के अन्दर–अन्दर पूरी कुरान कंठस्थ कर ली। अन्य क्षेत्रों में बालक की प्रतिभा औसत स्तर की है।

इसी प्रकार चीन का २६ वर्षीय टेलीफोन आपरेटर गोयानलिंग अब तक १५ हजार टेलीफोन नम्बर याद कर चुका है और अब वह अपने लक्ष्य अठारह हजार तक पहुँचने के निकट है। गोयानलिंग भी साधारण प्रतिभा वाला युवक है। बौद्धिक क्षेत्र में उसने कोई अन्य असाधारण क्षमता प्रदर्शित की हो, ऐसा अब तक देखने में नहीं आया है।

इन दोनों प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी क्षेत्र में तीव्र बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन करना और किसी में फिसड्डी साबित होना, बहुत कुछ व्यक्ति की रुचि, एकाग्रता और मनोयोग पर निर्भर करता है। इस प्रकार तीक्ष्ण बौद्धिक और कल्पना शक्ति को दर्शाने वाले साहित्यकारों और वैज्ञानिकों के बारे में यह कहना कि उनकी याददाश्त कमजोर थी, उचित न होगा। सच्चाई तो यह है कि अपने गंभीर चिन्तन के आगे छोटी–मोटी बातों और घटनाओं पर वे समुचित ध्यान न दे पाये यही इसका मूल कारण हो सकता है, क्योंकि जिस मस्तिष्क ने अपने अद्भुत सृजन–क्षमता के आधार पर नयी–नयी खोजें और रचनायें कीं, उसकी स्मरण शक्ति इतनी कमजोर होगी, यह बात गले नहीं उतरती। दूसरी ओर जीवन भर सामान्य बने रहने वाले लोग अपनी एकाग्रता और रुचि के आधार पर विस्मयकारी स्मृति का परिचय देते हुए देखे जाते हैं। यह इस बात का प्रतीक है कि स्मृति के संदर्भ में सभी का स्तर समान होता है।

कोई यदि तीव्र स्मरण शक्ति प्रदर्शित करता है, तो यह उसकी एकाग्रता का प्रतिफल है और कोई यदि इसके मन्द होने की शिकायत करता है, तो यह कहा जा सकता है कि उसने घटना के प्रति विशेष रुचि नहीं दिखाई क्योंकि मस्तिष्क की एक विशेष प्रवृत्ति तथा प्रकृति है, वह देखी हुई सारी घटनाओं अथवा बातों को याद नहीं रखता। यहाँ वह चयन प्रणाली का इस्तेमाल करता है। जो घटना उसे महत्वपूर्ण एवं आवश्यक जान पड़ती है, उसे रख कर शेष को छोड़ देता है। अब प्रश्न है कि यह चयन प्रणाली किस प्रकार काम करती है? मस्तिष्क महत्वपूर्ण व गौण विषयों का निर्णय कैसे करता है? इस संदर्भ में विशेषज्ञों का कहना है कि जहाँ ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है, वहाँ वह व्यक्ति की रुचि व मनोयोग का सहारा लेता है एवं देखता है कि उसकी रुझान किन बातों व घटनाओं की ओर है। इतना निश्चय कर लेने के उपरान्त वह संबंधित घटनाओं को सुरक्षित रख कर बाकी को विस्मृत कर देता है। इस प्रकार रुझान के अनुरूप स्मृति–विस्मृति का आधार खड़ा होता है। इतना समझ लेने के बाद किसी को यह शिकायत नहीं करनी चाहिए कि किसी बात को मस्तिष्क में अधिक समय तक धारण किये रहने की क्षमता उसमें कम है। जहाँ ऐसा प्रतीत हो, वहाँ विषय के प्रति गंभीरता की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इतने भर से कमी को दूर किया जा सकता है एवं स्मरण शक्ति को तीक्ष्ण भी।

चारण ने एक सामंत की प्रशंसा में कई गीत बनाये और उन्हें भरे दरबार में जा कर स्वरों के साथ गाया।

सामन्त ने इनाम पाने के लिए कल आने को कहा। कल आया तो फिर कभी आने के लिए कह दिया। इस प्रकार कई दिन चक्कर काटने के बाद चारण ने कहा जो कुछ देना है दे दीजिए न।

सामन्त ने कहा तुमने बातें बनाकर मुझे प्रसन्न किया। मैं तुम्हें वायदा करके प्रसन्न कर दिया करता हूँ। यह तो ऐसी ही चलेगा।

यदि नगद पाना है तो खेत का अनाज बेचने के लिए लाना और इस हाथ दे उस हाथ ले की उक्ति चरितार्थ होते हुए प्रत्यक्ष देखना।

चारण ने वास्तविकता समझी और सस्ते में बहुत कुछ पाने का इरादा छोड़कर अपनी खेती बाड़ी में लग गया।

स्वधर्म की खोज एवं उसका परिपालन

तो हम क्या करें ? माथे पर बनती–मिटती रेखाओं मन की उधेड़ बुन के बीच उपजा यह सवाल अभी भी अनसुलझा है । कर्म से घिरे होने पर भी हम अभी स्वयं के कर्तव्य को कहाँ ढूँढ सके हैं ? धार्मिक उपदेशों के बीच रहने पर भी स्वधर्म की खोज आज तक अधूरी है । जब कर्तव्य नहीं तब प्राप्तव्य कहाँ ? राह के बगैर मंजिल कैसी ? जीवन में विफलता, टूटन, बेचैनी, निराशा, उदासी का कारण यही किंकर्तव्यविमूढ़ता है ; स्वधर्म को न खोज पाना है । हममें से अनेकों के दुःख विपन्नता के बाह्य कारण सम्भव हैं अलग–अलग दिखें, पर मूल में तथ्य यही है ।

स्वयं की राह को न पहचान पाने के कारण हम बिना जाने समझे दूसरों की नकल करते हैं वैसा ही बनने के सपने देखते हैं । किन्तु इस आकांक्षा और स्वयं की प्रकृति के बीच उपजे अन्तर्विरोध के कारण चाह भी अधूरी रहती है और वह भी नहीं बन पाते जो बनना था । प्रत्येक की अपनी निजता है । हरेक के स्वभाव प्रकृति अन्तः प्रकृति की अपनी अनूठी मौलिक संरचना है । यद्यपि है यह सब बीज की तरह बन्द अविकसित लेकिन विकास की समस्त संभावनाओं को अपने में सँजोए और जब तक बीज स्वयं में कैद है तब तक बेचैन है । जब तक बीज फूट न सके अंकुर न बन सके, खिल न सके और फूल बन कर अपनी आन्तरिक शक्तियों की दिव्यता को संसार में बिखेर न सके, तब तक घुटन भरी बेचैनी बनी रहेगी ।

सामान्य जीवन क्रम में संताप, बेचैनी तनाव को दूर करने की कोशिश कम नहीं होती । पर प्रत्येक बार विफलता का राज यही है कि हम परधर्म को ओढ़ने की कोशिश में लगे रहते हैं । संगीतकार की स्वर लहरियों में मुग्ध हो कभी हम अलाउद्दीन खां बनना चाहते हैं । श्वेत परिधान में आवेष्टित चिकित्सक का गौरव खुद के भीतर वैसा ही हो जाने की ललक उपजाता है । वाल्टेयर, मिल्टन, टैगोर की भाव भरी रचनाएँ पढ़ तुरत–फुरत साहित्यकार बनने को जी उमगता है । बस कदम मचल उठते हैं उसी ओर चलने के लिए, होश तब आता है जब मुश्किलों में पड़े स्वयं को लगने लगता है अमुक जैसा बन पाना शायद मेरे लिए संभव नहीं । चम्पा का वृक्ष चमेली का फूल लाने की कोशिश करे, गुलाब का वृक्ष कमल का फूल लाना चाहे तो न केवल बेचैनी दोहरी होगी बल्कि असफलता सुनिश्चित है ।

डा. राधाकृष्णनन "एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ" में इस असफलता को स्वभाव की गहराइयों में देखते हैं । स्वयं को मौलिकता के प्रतिकूल होने की कोशिश भर हो सकती है पर हुआ नहीं जा सकता । गुलाब का फूल भरपूर चाहत और अनेकों प्रयत्नों के बावजूद कमल का फूल नहीं बन सकेगा । उल्टे विफल प्रयत्न होने पर हीनता, हार, फ्रस्टेशन उसकी अन्तर्चेतना में अड्डा जमा बैठेंगी । इतना ही नहीं एक इससे भी बड़ी दुर्घटना जिन्दगी में घटित होगी । वह यह कि समूची ऊर्जा प्राण सामर्थ्य कमल बन जाने की कोशिश में खप गई । अब गुलाब बन पाना भी सम्भव न रहा । कारण कि गुलाब बनने के लिए जो प्राण चेतना चाहिए थी वह परधर्म को ओढ़ने में चुक गई ।

स्वधर्म परम कर्तव्य है । इसकी खोज जीवन की केन्द्रीय आवश्यकता है । इस नैसर्गिक प्रयास को करने का मतलब है कि व्यक्तित्व की समस्त गुह्य शक्तियों का जागरण । पर खेद है, इसे हम करते कहाँ हैं ? मनीषी एन. एन. एवरीनोव के चिन्तन कोश "द थियेटर इन लाइफ" के अनुसार स्वयं के नैसर्गिक सौन्दर्य को विकसित करने के बजाय मुखौटे बदलते रहते हैं । कभी एक कभी दूसरा । इन्हीं को छाँटते–चेहरे पर चिपकाते जिन्दगी बीत जाती है ।

इससे उबर कर कुछ सार्थक करने, जीवन की दिव्य विभूतियों को उद्भासित करने, का एक ही मार्ग है स्वधर्म की खोज । जिसके बिना यह पता नहीं चलता कि "मैं क्या करने को पैदा हुआ था ?" परमसत्ता ने किस अभियान पर भेजा था ? कौनसी यात्रा पर आया था ? न पता चलने में सबसे बड़ी बाधा है पर धर्मों का प्रलोभन अपनी मौलिकता नष्ट कर दूसरों की कार्बन कापी बनने का प्रयास । होना तो यह चाहिए

कि हम अपनी गहराइयों में झाँकते । स्वयं की संभावनाओं पर विचार करते । अभिरुचियों एवम् मानसिकता विश्लेषण कर परिवेश से सामंजस्य बिठाते हुए नैसर्गिक क्षमताओं को विकसित करते ।

पर करने लगते हैं वह जो स्वयं की मौलिकता का उल्टा है । आज इसी उलटवांसी से पनपी मुश्किलों के कारण चारों ओर से शोर सुनाई देता है जीवन अर्थहीन है । अर्थहीन नहीं है जीवन सिर्फ स्वधर्म खो गया है । दूसरे के काम में भला अर्थ कहाँ ? अब जो गणित बना सकता है कविता कर रहा है ! अर्थहीन हो जाएगी कविता । सिर्फ बोझ मालूम पड़ेगा कि इससे मर जाते तो अच्छा था । यह कहाँ का नारकीय काम मिल गया । कहाँ गणित की दो और दो चार की सख्ती, कहाँ काव्य का बहाव । इसी प्रकार की परेशानी तब है जब कवि गणितज्ञ हो जाय । ऐसे में जीवन भर भुनभुनाता रहेगा किस मुसीबत में पड़ा है कैसे छुटकारा मिले इस बला से । क्योंकि इन दोनों के जीवन को देखने का ढंग ही अलग है । इनके सोचने की प्रक्रिया अलग है । एक सी दिखाई पड़ने पर भी इनकी आँखों में भिन्नता है । हममें से प्रत्येक एक अद्वितीयता लेकर आया है, अनूठी प्रकृति लाया है जिसका अपना स्वर है, अपना संगीत है जिसकी अपनी सुगंध है अपना जीने का ढंग है उसी को विकसित करना होगा । इसी की अनिवार्यता बतलाते हुए गीताकार का कहना है "श्रेयान स्वधर्मो हि विगुणः परधर्मास्वनुष्ठिसात्"

इसकी खोज के दो चरण हैं पहला—दूसरों के कर्तव्य कर्म उनकी प्रतिलिपि बन जाने के लालच को छोड़े । दूसरा स्वयं की जाँच—परख गहराई और सूक्ष्मता से करे । लगातार के प्रयत्न के बाद एक एक करके अपने में बीज रूप में निहित क्षमताओं का पता लग जाएगा । मनोयोगपूर्वक करने पर यों यह कार्य दुष्कर नहीं है । किन्तु इसे और अधिक सुखकर बनाने का एक और उपाय है मानवी प्रकृति की सरंचना एवम् कार्य विधि में निष्णात् किसी प्रज्ञ पुरुष की शरण जिसके लिए भगवान कृष्ण कहते हैं "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया "। इस तरह वह सूत्र मिल जाता है जिसका अवलम्बन स्वयं को परिपूर्णता से भर देता है ।

पर ऐसा सिर्फ खोज लेने भर से नहीं होगा । इसका निष्ठापूर्वक परिपालन चाहिए । जिसकी एक ही कसौटी है कि जीवन की समस्त शक्तियाँ, उर्जा का समूचा बहाव, प्राण की प्रत्येक लहर, उमगती—उफनती महानता, उच्चतर उद्देश्य सद्गुणों के समुच्चय की ओर बढ़ रही है या नहीं । ऐसा होने पर आत्महीनता, बेचैनी, संताप समाप्त होते नजर आएँगे । कारण कि बीज में निहित उर्वरता कैद से मुक्त हो प्रस्फुटन की ओर बढ़ चली है । स्वधर्म के पालन का मतलब है व्यक्ति रूपी बीज का व्यक्तित्व के पुष्पित, सुरभित पादप में परिवर्तन हेतु भरपूर प्रयत्न । आवश्यक नहीं कि हम किसी महापुरुष की प्रतिच्छाया बने । किन्तु कुछ वैसा ही खिल उठें । उसने अपनी मौलिकता बिखेरी हम अपनी बिखेरें । दयानन्द, श्री अरविन्द और जूता गाँठने वाले रैदास तथा कपड़ा बुनने वाले कबीर की बाह्य स्थिति में अन्तर दिखते हुए भी वह स्वधर्म पालन की चरम परिणति हैं । परमात्मा की सृष्टि में कहीं अनुकृति नहीं । विश्व उद्यान का यह अद्भुत माली कभी भी दो एक तरह के पौधे नहीं लगाता, ताकि सौन्दर्य अपनी चरमतम स्थिति तक पहुँच सके ।

रामकृष्ण परहंस को एक लोटे की जरूरत पड़ी । शिष्य खरीदने के लिए उन्हीं के एक भक्त की दुकान पर पहुँचा । उसने पुराना लोटा दे दिया और नये के दाम वसूल कर लिए ।

भेद खुला तो बेचने वाले ने बिना शर्माये हुए कहा "गुरुदेव ! अनेकों को मुफ्त आशीर्वाद बांटते हैं । मैंने भी अपनी चतुरता से कुछ कमा लिया तो क्या बुरा किया ।"

इसे कहते हैं चतुरों की भक्ति ।

हम इसमें सहायक हो सकें इसके लिए गीता की भाषा में आवश्यक है हमारा "शुचि दक्षः " होना । अन्तर की विकसित पवित्रता के साथ स्वयं के प्राण प्रवाह की बूँद बूँद को इस ईश्वरीय संकल्प की पूर्ति हेतु उड़ेलना । वर्तमान देवमुहूर्त के पलों में इसका महत्व तब और अधिक बढ़ जाता है जब नियन्ता स्वयं अगले दिनों के लिए व्यक्ति के अन्तर में छुपा व्यक्तित्व उभारने सँवारने के लिए आतुर है । क्योंकि इन्हीं प्रखर व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्तियों को अपना यंत्र बनाकर वह संसार वाटिका की खरपतवार उखाड़ कर इसे पहले की तुलना में कहीं अधिक सौन्दर्यशाली बनाने वाला है । ऐसी स्थिति में अच्छा यही है कि हम बिना इधर—उधर ताक झाँक किए किसी को ललचाई नजरों से देखे बगैर, महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि दे, बस स्वधर्म पालन में तत्पर हों । *

सादगी सज्जनता की पोशाक

सज्जनता मनुष्य का वह विशिष्ट गुण है जिसके साथ उसकी गरिमा का सघन सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है। मानवता और सज्जनता दोनों ही एक दूसरे की सहेलियाँ हैं। जहाँ एक रहेगी, वहाँ दूसरी पहुँचे बिना रह नहीं सकती।

मानवी सद्गुणों का एकत्रीकरण ही सज्जनता है। उसके बिना कोई महान व्यक्तित्व उपलब्ध नहीं कर सकता। ओछे, अनगढ़, अनाचारी, उद्दण्ड व्यक्ति स्वेच्छाचार बरतते हैं और शालीनता की उस परिधि को तोड़ फोड़ कर मनमानी करते हैं जिसके अन्तर्गत रहने के लिए ही उसे बाधित किया गया है।

सज्जनता के प्रत्यक्ष गुणों में वाणी की मधुरता और व्यवहार में शिष्टाचार का समावेश प्रमुख है, किन्तु यह प्रदर्शन पक्ष है। अन्तःकरण में, व्यक्तित्व में जब वह प्रवेश करती है तो समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी के चार पायों पर उसे जमी हुई, खड़ी हुई देखा जा सकता है। व्यक्ति न उद्दण्डता बरतता है और न दूसरों को बरतने देता है। उसके अपने व्यवहार में तो नीति–निष्ठा और समाजहित का समावेश रहता ही है और जहाँ कहीं उनका उल्लघन होता है वह उसे सिखाने से लेकर रोकने तक जो कुछ बन पड़ता है वह सब कुछ करता है।

सज्जनता अपने तक ही सीमित नहीं रहती वरन् जिन तक अपना प्रभाव पहुँचता है उन्हें भी उस अनुबंध में बाँधती है। सज्जनता का सादगी के साथ सीधा सम्बन्ध है। वही उसकी पहचान भी है। गले में बोर्ड किसी के लटका नहीं होता और न उसकी कोई वरदी पोशाक होती है। पर उनका रहन–सहन इस तथ्य को भली प्रकार हृदयंगम किये हुए होता है कि "सादा जीवन उच्च विचार" का व्यवहार करने वाले को सदा चिन्तन में उत्कृष्टता व स्वभाव में, रहन–सहन में सादगी को समाविष्ट करके चलना पड़ता है। जिसमें बनावट की अमीरी की फिजूल खर्ची की गंध आती है, उसे वह कभी अंगीकार नहीं करता। छैल–छबीलों जैसे वेश विन्यास बनाकर–जेवर–फैशन वाले वस्त्र पहनना केश सजाना, श्रृंगार प्रसाधनों की लीपपोत करना उसे भोंड़ेपन का बचकानेपन का चिन्ह मालूम पड़ता है। इन विन्यासों को धारण करने वाला समझता है कि इस विडम्बना को देखकर दर्शक हतप्रभ रह जायेंगे। समझेंगे इन्द्र या कुबेर में से यही कोई है। पर वस्तुतः हर कोई अपने–अपने काम में इतना व्यस्त है कि सड़क पर निकलने वाली बरातों की ओर भी किसी का सिर उठाकर देखने का मन नहीं करता। ऐसी दशा में कोई, किसी की बनावट सजावट पर ध्यान देगा, ऐसा संभव नहीं। फिर कोई किसी की साज–सज्जा देख भी ले तो उसे उससे क्या मिलता है ? क्यों उसमें रुचि लेगा ?

सजधज वाली स्त्रियों की ओर आमतौर से लोग कुदृष्टि से ही देखते हैं। भड़कीला श्रृंगार देखकर उनकी चंचलता एवं लोलुपता का अनुमान लगाते हैं। ऐसी गलत फहमी में कई बार इस प्रकार की दुर्घटनाएँ भी हो जाती हैं जिन्हें अशोभनीय या अश्लील भी कह सकते हैं। पैसा और समय गँवाने पर बन पड़ने वाला श्रृंगार अपने ऊपर लादने वाले के प्रति यही अनुमान लगाता है कि यह कोई ओछा–बचकाना होना चाहिए। विज्ञजनों की दृष्टि में सादगी ही सबसे बड़ा फैशन है। उसके साथ गंभीरता और शालीनता दोनों ही जुड़ी रहती हैं। संसार के महामानव मनीषी जिम्मेदार स्तर के व्यक्ति सादगी के ही परिधान पहनते हैं। आहार–विहार की इतनी सादगी बरतते हैं जिसे देखकर औसत नागरिक को ईर्षा न हो। पाखण्डी कहने की नौबत न आये। "माले मुफ्त–दिले बेरहम" वाली उक्ति उन पर लागू होती है जो दान के पैसे से शाही ठाट–बाट बनाने और विलासियों के स्तर का मौजमजा उड़ाते हैं।

गान्धी जी रेल के थर्ड क्लास में सफर करते थे। कम से कम कपड़े और सस्ते से सस्ते उपकरणों से काम चलाते थे। सन्त बिनोवा ने भी वैसी ही शैली अपनाई थी। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर अपने उपार्जन का अधिकांश भाग शिक्षा प्रसार में खर्च कर देते थे। अपनी गुजर गरीबी जैसी स्थिति में करते थे। महामना मालवीय को सरकार "सर" की उपाधि से और कलकत्ता विश्वविद्यालय "डाक्टर" सम्मान देना चाहता

था। उनने दोनों को अस्वीकार करते हुए लिखा "मेरे लिए पंडित उपाधि ही पर्याप्त है। उसी का दायित्व निभा सकूँ तो बहुत।" अमेरिका में स्वामी रामतीर्थ की तत्कालीन राष्ट्रपति से भेंट हुई थी और उनके प्रवचन-प्रतिपादनों से प्रभावित होकर कई विश्व विद्यालयों ने डाक्टरेट की मानक उपाधि देने की पेशकश की थी, पर उन्होंने उस प्रस्ताव को हँसकर टाल दिया और कहा "स्वामी" कहा जाना ही क्या कम शर्म की बात है? जो इलाज न जानते हुए भी अपने को डाक्टर कहे जाने के उपहास उड़वाए। बहुत आग्रह करने पर भी उनने वह प्रस्ताव स्वीकार न किया।

सादगी और सज्जनता चन्दन वृक्ष की तरह है जो सम्पर्क क्षेत्र में शीतलता और सुगंध अनायास ही सुरभित करती रहती है। उधर से निकलने वाला कोई भी व्यक्ति सराहना किये बिना नहीं रहता। कमल कीचड़ में उत्पन्न होने पर भी समूचे तालाब को शोभायमान कर देता है। गरीबी में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह किसी की आन्तरिक वरिष्ठता पर आँच आने का अवसर मिलने दे। सन्तों की झोंपड़े में रहने से भी गरिमा अक्षुण्ण बनी रहती है। चाणक्य फूस की झोंपड़ी में रहते थे। पर वे उस विशाल साम्राज्य के प्रधान मंत्री और नालंदा विश्व विद्यालय के कुलपति भी थे। सादगी ने उनका गौरव गिरने नहीं दिया; वरन् अधिकाधिक बढ़ाया ही। राजा जनक अपने व्यक्तिगत निर्वाह के लिए कृषि करते और स्वयं हल चलाते थे। शबरी बाह्य दृष्टि से किसी बड़े सम्मान की अधिकारिणी नहीं थी, पर उसकी आन्तरिक विशिष्टता ने गरिमा को इतना बढ़ाया कि राम को उसके घर जाकर झूठे बेर खाने पड़े। सुदामा की गरीबी में छिपी हुई महानता कृष्ण को इतनी अधिक प्रभावित कर सकी कि उनने अपनी सारी सम्पदा ही द्वारिका में सुदामा पुरी के लिए हस्तान्तरित कर दी। साधु और ब्रह्मण सभी अपरिग्रही मितव्ययी रहते थे, किन्तु उनका यह आत्म संयम का विषय ही रहा और जन-जन का उन्हें अभिनन्दन मिला। इसके विपरीत बड़े ठाट-बाट वाले सोने-चाँदी के छत्र धारण करने वाले उद्धत और अहंकारी ही गिने जाते हैं। उनकी प्रदर्शन प्रियता और अहंकारी उद्धतता मात्र ईर्षा द्वेष का, आलोचना-निन्दा का, विषय बनती है।

कोई समय रहा होगा जब सामन्ती ठाट-बाट और उनका आंतक लोगों को डराकर उन्हें सम्मान प्रदर्शित करने के लिए बाधित करता था। कोई समय था जब यशलोलुप अपनी प्रशंसा सुनने सुनवाने के लिए चारणों को विपुल उपहार देते थे, पर अब चापलूसी व चमचागिरी क्षुद्रता का विषय बन गई है। उसे कदाचित ही सभ्य समुदाय में कहीं पसंद किया जाता हो। विशेषतया जब अपनी हैसियत से अधिक खर्च इन विडम्बनाओं से किया जाता है। जो लोग उसे चोर-जालसाज होने जैसे आक्षेप लगाने में भी नहीं चूकते। फिजूल खर्ची अनेक दुर्गुणों की जननी है। जिसे ठाट-बाट में पैसा उड़ाने की लत है, उसे चरित्र की दृष्टि से भी संदिग्ध माना जाता है क्योंकि न्यायोचित रीति से इतना ही कमाया जा सकता है जिससे सामान्य स्तर का गुजारा हो सके। फिर यदि आमदनी बढ़ी हुई भी है तो उसका उपयोग गिरों को उठाने में किया जाना चाहिए। जिनके पास ठाट-बाट में उड़ाने के लिए तो है पर पीड़ितों की सहायता के लिए नहीं, उन्हें पाषाण हृदय ही कहना चाहिए। जिनका कलेजा पत्थर का है उन्हें पुतलियों जैसा श्रृंगार सजाकर घूमने फिरने दिया जाय तो भी उससे क्या किसी का कुछ बनेगा?

सादगी सज्जनता की पोशाक है, सहृदयता की भी। उसको अपनाने से मनुष्य का गौरव बढ़ता है गिरता नहीं। इसके विपरीत जो अमीरी का आडम्बर प्रदर्शन करते हुए लोगों की आँखों में धूलि झोंकना चाहते हैं वे अपनी नंगी उद्धतता का प्रदर्शन करते हैं। सादगी ही व्यक्ति को अनेक विडम्बनाओं से बचाती है। अंगीकार उसे ही करना चाहिए। ✱

अपाला ऋषि कन्या थी। संयोग वश उसे श्वेत कुष्ठ के दाग हो गये। विवाह योग्य हुई तो उसे स्वीकार करने के लिए कोई वर तैयार न हुआ।

अपाला ने ज्ञान को अपना पति बनाया। गंभीरतापूर्वक अध्ययन में लग गई। कालान्तर में वह अपने समय की असाधारण विदुषी बन गई। उसने वेदों की कितनी ही ऋचाओं की रचयिता होने का गौरव प्राप्त किया।

उसने अनुभव किया कि श्वेत कुष्ठ उसे भगवान से उपहार के रूप में मिला। यदि यह कुरूपता उसे न मिली होती तो साधारण गृहस्थ की तरह मरते खपते जीवन बिताती और यह सुयोग न प्राप्त कर सकती जो अविवाहित रहने पर उसे मिला।

दिव्य–शक्तियों के हस्तान्तरण की प्रक्रिया

गायत्री को गुरुमंत्र कहा गया है । उसकी सफलता के लिए शास्त्रों ने समर्थ गुरु से दीक्षा लेने की आवश्यकता पर जोर दिया है और कहा है कि इसका प्रावधान न हो सकने पर सफलता संदिग्ध बनी रहेगी । इस उत्तरदायित्व को हर कोई नहीं उठा सकता । समर्थ गुरु में ब्रह्मा, वशिष्ठ और विश्वामित्र के तीनों गुण होने चाहिए । ब्रह्मा का अर्थ है–वेद ज्ञान में पारंगत, नूतन संरचना में समर्थ । वशिष्ठ का अर्थ है–ब्रह्मपरायण, सदाचार सम्पन्न, विशिष्ट आत्मबल का धनी । विश्वामित्र का अर्थ है–परम तपस्वी विश्वकल्याण के क्रिया–कलापों में निरन्तर संलग्न रहने वाला। इन तीनों गुणों से सम्पन्न गुरु को ही गायत्री मंत्र की गुरुदीक्षा देने और अनुष्ठानकर्ताओं का मार्गदर्शन, संरक्षण, परिमार्जन कर सकने के लिए समर्थ अधिकारी माना गया है । ऐसे सद्गुरु का सहयोग सान्निध्य जिसे मिल सके, समझना चाहिए उसकी साधना का समुचित सत्परिणाम उत्पन्न होकर रहेगा ।

गायत्री की उच्चस्तरीय या अन्यान्य अध्यात्म साधनाओं में भी साधना मार्ग के अवरोधों, विक्षोभों एवं कुसंस्कारों के निवारण में गुरु का असाधारण योगदान होता है । वह शिष्य को अन्तः शक्तियों से परिचित ही नहीं कराते, वरन् उसे जाग्रत एवं विकसित करने व्यक्तित्ववान बनाने के हर संभव उपाय भी करते हैं । वह अपनी प्रचण्ड प्राण ऊर्जा तपश्चर्या एवं पुण्य सम्पदा का एक अंश देकर शिष्य की पात्रता एवं क्षमता बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं । गुरु द्वारा अपनी शक्ति को हस्तांतरित करने की यह प्रकिया 'शक्तिपात' कहलाती है । शास्त्रों में उल्लेख है–"तत्पातः शिष्येषु" अर्थात् उस शक्ति का पात शिष्यों में होता है । यह एक ऐसी आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सद्गुरु अपनी दिव्य शक्ति को शिष्य में संचारित करते हैं ताकि उसकी प्रसुप्त पड़ी अन्तः शक्तियों का जागरण हो सके और बुद्धि निर्मल बन सके । गुण, कर्म, स्वभाव एवं चिन्तन, चरित्र, व्यवहार में पवित्रता–प्रखरता का समावेश हो सके और वह अतीन्द्रिय विषयों की सूक्ष्मता को जान सके । तंत्रशास्त्रों में इसे ही परम शिव का अनुग्रह कहा है । सद्गुरु उन्हीं के प्रतीक हैं जो अपनी शक्ति का हस्तान्तरण शिष्य के, साधक के–कल्याण हेतु करते हैं ।

अध्यात्मशास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि साधना पथ में गुरुवरण अनिवार्य है । गुरु–कृपा के बिना इस दिशा में प्रगति संभव नहीं । शिवपुराण वायवीय संहिता में कहा गया है ।

शक्तिपात समायोगादृते तत्वानितत्वतः ।
तद्व्याप्तिद्धिशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते ।।

अर्थात् शक्तिपात के गुरु–अनुग्रह के समायोग के बिना तत्वतः तत्वों का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और शुद्ध–बुद्ध स्वरूप का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता । समर्थ गुरु ही इस धरती पर आद्यशक्ति के प्रतीक प्रतिनिधि हैं जो अपने आत्मबल से शक्ति संचरण करते, प्रेरणा उभारते और शिष्य की प्रसुप्त क्षमताओं–प्रतिभाओं को, आध्यात्मिक शक्तियों को जो ज्ञानमयी हैं, जगाकर समस्त विघ्नों से बचाते हुए पार ले जाते हैं । उनकी समर्थता का लाभ साधक को आत्मबल एवं मनोबल के रूप में मिलता है, जो उसे अवांछीयताओं से लड़ने और अन्तःविकारों को उखाड़ने की सामर्थ्य प्रदान करते हैं ।

अन्यत्र भी कहा है–"शक्तिपाताद्विशेषेण" अर्थात् शक्तिपात के द्वारा विशेषता से शक्ति का जागरण होता है । इससे साधक के आत्मिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन आ जाता है । उसमें परमार्थ परायणता का, भगवद् भक्ति का, आत्मबल का विकास होता है । गुरु का यह अनुदान साधक अपनी आन्तरिक श्रद्धा के रूप में उठाता है । जिस शिष्य में श्रद्धा समर्पण की जितनी अधिक गहनता तथा आदर्शों एवं सिद्धांतों के प्रति निष्ठा होगी, वह गुरु के अनुदानों से उतना ही अधिक लाभान्वित होता है । प्रत्येक साधक अपनी श्रद्धापूँजी के अनुरूप ही उसे प्राप्त करता और अन्तःशक्तियों को विकसित करता हुआ व्यक्तित्व सम्पन्न बनता है । शक्तिपात का यही दर्शन है । यह एक समय साध्य एवं साधन साध्य प्रक्रिया है जो अपनी श्रद्धा अभिपूरित साधना द्वारा साधक गुरु से प्राप्त करता है । यह कोई आकस्मिक क्रिया नहीं है जिसके द्वारा तत्काल चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं, वरन् एक लम्बे समय तक चलने वाली साधना पद्धति है जिसके अवलम्बन से शिष्य अपनी दुष्प्रवृत्तियों, कषाय,–कल्मषों एवं कुसंस्कारों से पीछा छुड़ाता तथा आत्मिक प्रगति करता है ,

सूत संहिता में कहा गया है कि गुरु शिष्य के माया, मोह का निराकरण करते और अज्ञानांधकार से

छुड़ाकर आत्मोन्नति की ओर अग्रसर करते हैं। सद्गुरु का शक्तिपात इसी रूप में होता है। शिष्य को व्यक्तित्व सम्पन्न बनाने –आत्मबल बढ़ाने के रूप में इसका असामान्य पक्ष है। यह सुयोग किन्हीं विरलों को ही प्राप्त होता है। जिन्होंने अपनी क्षमता इस स्तर तक विकसित कर ली है कि शक्ति के अवतरण को धारण कर सकें, ऐसे व्यक्तियों को दिव्य अनुदान भी मिलते हैं, पर यह प्रक्रिया उच्चस्तरीय है। सर्वजनीन नहीं, इसके लिए साधक को अपने जीवन में उत्कृष्टता का समावेश करते हुए पात्रत्व का विकास करना होता है। गुरु ऐसे व्यक्तित्वों की ही शक्ति, संचरण द्वारा परमतत्व में नियोजित करते हैं।

मुण्डकोपनिषद् १/२/१३ में उल्लेख है कि इस प्रकार की दीक्षा उसी शिष्य को दी जाती है और प्रतिफलित होती है जो श्रद्धासिक्त शानतचित्त, तप–तितिक्षा एवं साधना निष्ठ हो, कर्तव्यपरायण हो। ऐसा शिष्य ही अविनाशी सत्स्वरूप आत्मा को जान और गुरुकृपा का लाभ उठा सकता है। जिसमें यह गुण नहीं उस ऊसर भूमि में किसी भी गुरु का बोया गया ज्ञान बीज नहीं जम सकता। गुरु के एक पक्षीय प्रयत्न से भी काम नहीं चल सकता। दोनों ही पक्षों की श्रेष्ठता से गुरुशिष्य संयोग का सच्चा लाभ मिलता है।

यह एकांगी चलने वाली प्रक्रिया नहीं है, वरन् दोहरी पद्धति है। गुरु के अनुदान बरसते और शिष्य को अपनी सघन श्रद्धा का आरोपण करना पड़ता है। समर्पण जितना सघन होगा, दिव्य अनुग्रह से लाभान्वित होने का उतना ही अवसर मिलेगा। श्रद्धा की परिणति चरित्र निष्ठा एवं कर्तव्य परायणता के रूप में होती है। पात्रता के विकास द्वारा ही साधक अनुदानों का लाभ उठा पाते हैं। अनेकों क्रियाएँ भी हैं जिनके द्वारा समर्थ गुरु से शक्ति ग्रहण की जाती है; पर उनमें क्रिया का कम अन्तः श्रद्धा का समर्पण का ही अधिक महत्व होता है। गुरु दर्शन, नमन् चरण बन्दन, वाक्यों के श्रवण द्वारा भी शक्ति अर्जित की जा सकती है।

गुरुकृपा से ही इस संसार सागर को पार किया जा सकता है। सन्त तुकाराम ने अपने एक अभंग में कहा है कि–'गुरु के बिना मार्ग प्राप्त नहीं होता, अतः सर्वप्रथम उनके चरणारविन्दों को स्पर्श करो। वह शरणागतवत्सल शिष्य को अपनी तरह ही बना लेते हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए संत ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी गीता में बताया है कि कृष्ण के शक्तिपात से किस तरह अर्जुन को आत्मानुभूति हुई। इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं "तब भगवान ने अर्जुन को दोनों [illegible] फैलाकर अपने हृदय से लगा लिया। दोनों हृदय एक हो गये। जो कुछ एक में था वह दूसरे में डाल दिया। द्वैत भी बना रहा, परन्तु अर्जुन को भगवान ने अपने जैसा बना लिया। सच्चे समर्पण में गुरुकृपा का यही विशेष लाभ है। राम को गुरु वशिष्ठ से जब यह प्रसाद प्राप्त हुआ था तो उन्हें भौतिक जगत से वैराग्य हो गया था। राज वैभव को उनने त्याग दिया और युगधर्म का निर्वाह करने–अधर्म का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के लिए चल पड़े।

गुरुदीक्षा के पश्चात् शिष्य अनेकों कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से लद जाता है।' उन सब में आवश्यक कर्तव्य है–गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा एवं भक्ति भावना का समर्पण का होना तथा उनके कार्यों को आगे बढ़ाना यही वह आकर्षण है जिसके बल पर शिष्य गुरु के हृदय में से आवश्यक अनुदान सहायता और कृपा प्राप्त कर सकता है। नाला गंगा में मिलकर तद्रूप हो जाता, पवित्र बन जाता है। पारस का स्पर्श पाकर लोहा सोना बन जाता है। महत्व इसी का है। गुरु की कृपा किस रूप में बरसी ? शक्तिपात किस रूप में हुआ ? अनुग्रह की परिणति क्या हुई ? अनुभूतियाँ क्या हुईं ? महत्ता इसकी नहीं, वरन् फलश्रुतियों की है

हर दुर्लभ वस्तु मँहगे मोल पर खरीदी जाती है जैसे श्रद्धा और सद्भावना।

कि साधक के जीवन में परिवर्तन क्या आया ? उसकी मनःस्थिति में आमूलचूल परिवर्तन हुआ या नहीं।

गुरु द्वारा अपनी दिव्य शक्तियों को हस्तान्तरित करने–शक्तिपात द्वारा शिष्य की क्षमताओं को विकसित करने की घटनाओं से साधना ग्रंथों एवं इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। अर्जुन, हनुमान, शिवाजी, विवेकानन्द, दयानन्द आदि के उदाहरण यह बताते हैं कि समर्थ सत्ता से–गुरु सत्ता से जुड़ने–समर्पित होने के पश्चात् उन्होंने जन प्रवाह के बहते हुए ढर्रे के जीवन से मुख मोड़ कर वह मार्ग अपनाया जो कठिनाइयों से भरा था। उनने संघर्षों का आव्हान किया तथा उनसे व्यक्तित्व को इतना परिष्कृत किया जिससे सभी लोग प्रकाश एवं प्रेरणा ले सके। विवेकानन्द में रामकृष्ण का, श्री माँ में अरविन्द का व्यक्तित्व झांकता दिखाई देता था। इनके जीवन में महत्ता अनुभूतियों की नहीं, फलश्रुतियों की–सौंपे गये उत्तरदायित्वों को पूरा करने की स्पष्ट देखी जाती है। चरित्र की उत्कृष्टता एवं व्यक्तित्व की समग्रता ही गुरु अनुग्रह की वास्तविक उपलब्धि है। यह जिस भी साधक में जितनी अधिक मात्रा में दीख पड़े, समझा जाना चाहिए गुरु शक्ति का हस्तान्तरण उतना ही अधिक उसमें हुआ है। ❋

परम पूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी—साधना से सिद्धि

इस अंक में "अमृतवाणी" स्तम्भ के अन्तर्गत परमपूज्य गुरुदेव द्वारा सूक्ष्मीकरण साधना के दौरान २१ अप्रैल १९८४ को "साधना से सिद्धि " विषय पर परिजनों के लिए दिया गया टेप संदेश प्रस्तुत है ।उदबोधन क. यथावत दिए जाने का पूरा प्रयास किया गया है ।

भाइयो ,

आप में से सैकड़ों व्यक्ति शिकायत करते पाए गए हैं कि हमें अपनी साधना से सिद्धि नहीं मिली । हमने इतना जप किया, इतना पूजा पाठ किया, इतना भजन किया लेकिन हमको तो कोई चमत्कार दिखाई नहीं पड़ा । मेरे ख्याल से अधिकांश आदमी आप में ऐसे हैं जो ऐसी शिकायत करते पाए जाते हैं । तो क्या पूजा पाठ का, मंत्र जप का विधान गलत है, क्या यह ऋषियों की धोखेबाजी है, ऐसा ही एक बौद्धिक मायाजाल है ? न, ऐसी बात नहीं । अगर आपने ऐसा विचार किया है, व आप निराश हो गए हैं कि पूजा पाठ—साधना से कोई लाभ नहीं होता तो आप मन से अपने इन विचारों को निकाल दीजिए । मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि "साधना से सिद्धि—" अवश्य मिलती है ।

आपके सामने मैं एक ऐसा गवाह पेश करना चाहता हूँ , जिससे आप चाहें तो जिरह भी कर सकते हैं व इम्तहान लेना चाहें तो वह भी ले सकते हैं । कौन है वह गवाह ? वह मैं स्वयं हूँ । आप मुझे किसी भी प्रयोगशाला में , किसी भी अदालत में खड़ा कर दीजिए व देखिए कि इस आदमी ने साधना की है व इसे सिद्धियाँ मिली हैं कि नहीं ? आप जिरह कीजिए व प्रमाण मिलने पर ही इसे सच मानिए ।

वास्तव में साधना से सिद्धि का जुड़ा हुआ संबंध है । ऐसा जैसे कि बोने व काटने के बीच होता है । बोयेंगे तो आप काटेंगे भी । इसी तरह आप साधना करेंगे तो सिद्धियाँ भी आपको मिलेंगी । हमने साधना सही ढंग से की है व आपने गलत ढंग से की है । इसीलिए आप शिकायत करते पाए जाते हैं । गलत यह कि मात्र बीज बोना ही काफी नहीं, उसमें खाद—पानी देना भी उतना ही जरूरी है । खाद आप देंगे नहीं पानी आप लगाएँगे नहीं तो आपकी उम्मीद लगाना कि फसल पैदा होगी, पेड़ में फल लगेंगे गलत है । साधना का बीज बोया हमनें पर खाद पानी भी साथ लगाया । इसीलिए फला । कैसे लगाया जाता है खाद—पानी । चलिए मैं आपको दो घटनाएँ अपने जीवन की सुना देता हूँ । सारी तो बहुत अधिक हैं , मुश्किल पड़ेंगी । पर दो घटनाएँ सुना देता हूँ ।

एक यह कि हमारे पिताजी दस वर्ष की उम्र में हमें महामना मालवीय जी के पास हिंदू विश्वविद्यालय में ले गए थे व हमारा दीक्षा संस्कार कराया था । मालवीयजी ने हमें गायत्री मंत्र दिया था, एक जनेऊ पहनाया था व एक खास बात हमारे कान में कही थी, जो अभी तक याद है । वह यह कि "गायत्री ही कामधेनु है । कामधेनु होते हुए भी मात्र ब्राह्मण की कामधेनु है । कामधेनु स्वर्गलोक की एक गाय है जिसका दूध पीकर देवता अजर—अमर हो जाते हैं । गायत्री मंत्र सबके लिए नहीं, मात्र ब्राह्मण के लिए कामधेनु है । इसके लिए ब्राह्मण बनना चाहिए । ब्राह्मण उसे कहते हैं जो औसत नागरिक के हिसाब से गुजारा कर ले व बचे समय को समाज के लिए लगा दे । ज्ञान और विचार में लीन रहे । स्वार्थ को परमार्थ में बदल दे ।" मैंने यह बात अच्छी तरह समझ ली । पिताजी व मालवीय जी से पूछकर समाधान कर लिया व बात पत्थर की लकीर की तरह मन में बैठ गयी है ।

मैं गायत्री मंत्र का जप करने लगा । जप के साथ यह ध्यान मन में बना रहा कि मुझे ब्राह्मण बनना है । बराबर यही ख्याल रहा । इसका फल क्या हुआ ? पाँच साल के भीतर ब्राह्मणत्व इतना विकसित हुआ कि एक और गुरु मेरे घर आए पंद्रह साल की आयु में । यह मेरे जीवन की दूसरी घटना । गुरु

स्वयं घर आए । हम नहीं गए उनकी तलाश में । गुरु तलाश करते हुए स्वयं आते हैं । उनकी तलाश करना बेकार है क्योंकि पात्रता जब तक विकसित नहीं होती तब तक कोई गुरु नहीं आता । कच्चे फल होते हैं तो खाने के लिए कोई चिड़िया नहीं आती किन्तु फल के पकने की सुगंध आते ही जाने कहाँ कहाँ से चिड़िया आ जाती हैं व फल खाने लगती हैं । ऐसा ही हुआ । मैंने ब्राह्मणत्व का जीवन जिया । बदले में सूक्ष्म शरीर से मेरे गुरु मेरे पास आए व हमसे कहा कि गायत्री का जो बाकी हिस्सा रह गया है, वह हम तुम्हें सिखाएँगे । उनने कहा कि गायत्री मंत्र तो यही है पर इसके साथ एक और सिद्धान्त है बोया और काटा । क्या मतलब है ? जो कुछ भी तुम्हारे पास है, उसे भगवान के खेत में बीज की तरह बोना शुरू करो और तुम्हारे पास सौगुना ज्यादा होता चला जाएगा । मक्का, बाजरा खेत में बोते हैं तो एक दाने के बदले सौ दाने पैदा हो जाते हैं । तू बोना और काटना शुरू कर । मैंने कहा कहाँ ? तो उनने कहा—भगवान के खेत में । मैंने पूछा भगवान का खेत कहाँ है तो उनने कहा—सारा समाज भगवान का ही विराट रूप है । किसी ने भी आज तक भगवान को आँख से नहीं देखा है क्योंकि वह निराकार है, व्यापक है । कैसे उसे देख सकेंगे । आग को तो देख सकते हैं पर गर्मी को कैसे देखेंगे ? हवा को कैसे देखेंगे ? भगवान को देखा नहीं जा सकता , अनुभव किया जा सकता है बस ! तू भगवान के खेत में बोना शुरू कर । तेरे पास सम्पत्ति है उस देख ! तुझे चमत्कार मिलता है कि नहीं । हमने कहा—हमारे पास तो कुछ भी नहीं है । यह हम कुरता—धोती पहने बैठे हैं बस । उनने कहा—तीन चीजें तो तू भगवान के यहाँ से लेकर आया है । एक तूने अपने पुरुषार्थ से कमाई है । चाहे इस जन्म में कमाई हो । चाहे पिछले जन्मों की कमाई हो । चार चीजें तेरे पास हैं—यह शरीर व उसके साथ जुड़ी तीन चीजें समय, श्रम व बुद्धि । चौथी तेरी सम्पत्ति । इन सबको भगवान के लिए लगा । तू लगाएगा तो देखेगा कि यह सौगुना ज्यादा होकर आ रहा है ।

सूक्ष्म शरीरधारी उन गुरु का भी मैंने कहना मानना शुरू कर दिया । मैंने मालवीय जी के कहे अनुसार अपने जीवन को ब्राह्मण जैसा बनाने की कोशिश की । ब्राह्मण माने संयमी । संयमी माने वह जिसने अपनी इन्द्रियों पर, धन, समय व विचारों पर नियंत्रण कर लिया हो । सारी शक्तियाँ एकाग्र हो गयीं । जैसे आप फैली बारूद को जलाते हैं तो भक्क से जल जाती है एवं इकट्ठी की बारूद को गोली के रूप में चलाते हैं तो कमाल दिखाती है । एकाग्रता इसी का नाम है । इस तरह हमने अपने आपको एकाग्र कर लिया, अपने आप पर संयम कर लिया । ध्यान की एकाग्रता में क्या रखा है ? आप चाहे घण्टों बैठें । ध्यान की नहीं, समग्र जीवन की एकाग्रता । हमने अपने आपको ब्राह्मण बनाने की कोशिश की दस साल से पंद्रह साल की उम्र तक । पाँच वर्ष तक पूरा यत्न रहा कि ब्राह्मण का चिंतन, व्यवहार जैसा होना चाहिए , वैसा हो । हम ब्राह्मण बन गए । क्यों ? आप नहीं थे क्या ? कौम से तो हम ब्राह्मण थे, एक सनाढ्य ब्राह्मण के घर जन्म हुआ है हमारा, पर कोई भी आदमी जन्म से ब्राह्मण नहीं होता, कर्म से होता है । हमने कर्म से अपने आप को ब्राह्मण बनाया । जब हमारी उम्र काफी हो गयी तो हमारे पास हिंदुस्तान के बड़े पहुँचे हुए ऊँचे आदमी आए । उनने यह सुना था कि इस आदमी की जबान से जो कुछ निकल जाता है , वह सौ फीसदी सच हो जाता है । कैसे हो जाता है ? श्रृंगी ऋषि का नाम आपने सुना होगा । उनने एक शाप दिया तो राजा परीक्षित मिट्टी में मिल गया व वरदान दिया तो राजा दशरथ जिसे बच्चे नहीं होते थे , एक साथ चार बच्चे हुए उनको यह ब्राह्मण की जिव्हा है । हर आदमी नहीं होता ब्राह्मण । ब्राह्मण कौम से नहीं, कर्म से । उनने पूछा—कि यह सिद्धियाँ आपको कैसे मिलीं, हमें भी सिखा दीजिए । हमने उनसे कहा कि जितनी भी सिद्धियाँ हमने पाई हैं, यह हमारे ब्राह्मण बनने की सिद्धियाँ हैं । ब्राह्मणत्व का ही चमत्कार देखा है अब तक लोगों ने । साधना व तप को तो तिजोरी में बन्द करके रखा है । उसको हम सारे संसार के एक बड़े काम में खर्च करेंगे । यह जो कह देते हैं तो उससे किसी का भला हो जाता है—यह मात्र ब्राह्मण की विशेषता है ।

किन्तु जब हमने पहली किताब छापी व उसका नाम रखा "गायत्री ब्राह्मण की कामधेनु है " तो लोग शिकायत करने लगे कि पुराणपन्थी पण्डित भी यही कहते हैं कि गायत्री मात्र ब्राह्मणों को जपनी चाहिए और कौमों को नहीं तो हमने कहा सब पागल हैं ।

क्या विषय चल रहा है व कहीं से कहीं ले जाते हैं। वंश जन्म से नहीं, कर्म से चलता है। महात्मा गाँधी बनिया नहीं, ब्राह्मण थे। हमने अपने को कर्म से ब्राह्मण बनाया। जब लोगों की शिकायतें किताब के संबंध में आईं तो मैंने कहा अरे! यह तो लोगों ने गलत मतलब निकाल लिया। मैं क्या कहना चाहता था ये क्या समझे। मैं कर्म से ब्राह्मण कह रहा था, इनने जन्म से मतलब निकाल लिया। दुबारा किताब छपी तो मैंने ब्राह्मण शब्द निकालकर लिखा "गायत्री ही कामधेनु है।" बस! इतना ही नाम किन्तु अभी भी मेरा विश्वास है कि गायत्री मात्र ब्राह्मण की कामधेनु है और किसी की है क्या? चोर की है? नहीं। ठग की, उठाईगीरे व जालसाज की भी नहीं। साधना करने से पहले ब्राह्मण बनना पड़ता है। कपड़े को रँगने से पहले धोना पड़ता है। मैले कपड़े पर कभी रंग नहीं चढ़ता। अपने आपको शुद्ध व पवित्र बनाने के लिए, जीवन का शोधन करने के लिए सेवा करनी पड़ती है। परोपकार और पुण्य इन दोनों के बिना जीवन शोधन संभव नहीं हैं। सेवा किए बिना कोई साधना सफल नहीं हो सकती।

ब्राह्मण-साधु पहले सारा जीवन सेवा करते थे। आज तो साधु का नाम भी नहीं दिखाई पड़ता। आज तो यह बाबाजी दिखाई देते हैं, जो भीख माँगते हैं व माला घुमाते हैं कि किसी तरह ऋद्धि मिल जाए, सिद्धि मिल जाए, बैकुण्ठ मिल जाए। इसी जंजाल में रहते हैं। हमने अपना जीवन पुराने ऋषियों के जीवन के आधार पर सेवा में लगाया। पूजा जो भी करनी हो रात्रि में सोने से पहले व दिन में सूरज उगने से पहले कर ली। सूर्य निकलने से अस्त होने तक हम समाज सेवा में लगे रहते हैं। यही हमारा भजन है, यही हमारी पूजा है।

हमने चारों सम्पत्तियों को गुरु के कहे अनुसार समाज के खेत में बोया। समय को हमने समाज में लगा दिया। श्रम भी हमारा इसी निमित्त लगा। हमारे पसीने की एक बूँद भी व्यापार-पैसा कमाने में खर्च नहीं हुई। हमारी बुद्धि ने कभी भी जालसाजी नहीं की, न चोरी की। मात्र यही सोचती रही कि लोक कल्याण कैसे हो सकता है? समाज में सत्प्रवृत्ति कैसे बढ़ाई जाय इसी में बुद्धि लगी। इन तीनों चीजों को बोने से आपको क्या मिला? समय का हमने ठीक उपयोग किया तो उसे हमने पाँच गुना बढ़ा लिया। अभी तक की हमारी जिन्दगी का लेखा जोखा लें तो देखें कितना बड़ा संगठन हमने अकेले खड़ा कर दिया। चौबीस लाख के चौबीस पुरश्चरण संपन्न किए। शरीर के वजन से भी ज्यादा साहित्य लिखकर रख दिया। पाँच आदमी निरन्तर आठ घण्टे रोज लगें तो जितना काम हो उतना हमने रोजाना किया। हमारा समय पाँच सौगुना होकर हमारे पास चला आया। थोड़ी सी जिन्दगी में जो कमाल करके दिखा दिया वह दो सौ वर्षों में भी नहीं हो सकता।

श्रम हमने किया जनता को सुखी बनाने के लिए। हमारे घर से खाली हाथ कोई नहीं गया। हर आदमी का यह कहना है कि जो भी इनके घर आया, प्यासा,

> *एक सन्त बड़े संयमी थे। बहुत आचार विचार से रहते। फिर भी वे रोगी बने रहते। चिकित्सा से भी कुछ लाभ न हुआ।*
>
> *एक दिन वे किसी तत्वज्ञानी के पास इसका कारण पूछने गये। उनने लम्बी पूछ ताछ की और वस्तु स्थिति को समझा।*
>
> *तत्वज्ञानी ने अपना निष्कर्ष बताया कि शरीर से तो आपकी संयम साधना ठीक चल रही है। पर मन में वासनाएँ तृष्णाएँ सदा उमड़ती घुमड़ती रहती हैं मात्र लोक लाज से ही उन्हें आप कार्यान्वित नहीं कर पाते। मन की यह घुटन ही आपको असमंजस में डाले रहती है और बीमार करती है।*
>
> *उनका निर्णय था कि यदि संयमी होने का प्रदर्शन करना है तो मन को भी सही करें और भीतर बाहर से एक से रहें। अन्यथा गृहस्थ रहकर साधारण जीवन बिताना ही ठीक है। भीतर बाहर से एकसी स्थिति में रहना ही श्रेयस्कर है।*
>
> *संयमी ने वही किया और वे निरोग हो गये।*

भूखा वापस नहीं गया। बिना दवादारू के नहीं गया। क्योंकि हम सेवा करते हैं। सेवा अर्थात् प्यार। प्यार माने सेवा। हमने दूसरों के लिए जीवन भर श्रम किया है, प्यार दिया है-जीवन भर प्यार बाँटा है व बदले में समेटा है। हमारी जिन्दगी प्यार में लबालब व सराबोर है। ये लाखों आदमी जो हमारे इशारे पर चलते हैं, हमारे व्याख्यानों का फल नहीं है, यह हमारे जीवन के उस हिस्से का परिणाम है जिसके द्वारा हमने लोगों को प्यार किया व दिया है। बदले में पाया है, यह सही है।

बुद्धि हमारी इतनी बड़ी कि हम लाखों आदमियों की टेढ़ी बुद्धि को उलटकर सीधा कर देते हैं। हमने न एम. ए. किया न कोई डिग्री ली। पर हम प्लानिंग

करते हैं। सारे समाज का, सारे विश्व के कायाकल्प का प्लानिंग। जो कोई भी कमीशन नहीं कर सकता। साहित्य जो हमने लिखा है व वेद-पुराण आदि का भाष्य किया है, इससे अंदाज मत लगाइए कि हम कितने बुद्धिमान हैं। यह देखिए कि हमारी बुद्धि कितनी बड़ी-बड़ी सार्थक योजनाएँ बनाती है। किस दिशा में चलती है। सारे युग का नवनिर्माण कैसे हो, यह हमारी बुद्धि ने सोचा है व करेगी।

चौथी सम्पत्ति-हमारा धन। धन कहाँ है आपके पास? धन हमने तो कमाया नहीं पर हमारे पूर्व जन्म का कमाया हुआ था जो हमारे पिताजी छोड़ कर मरे थे। २००० बीघा जमीन हमारे पास थी। इसे जब हम समाज सेवा में पदार्पण करने लगे तो बच्चों से पूछा कि पुश्तैनी जायदाद होने के नाते क़ानूनी हक तो तुम्हारा भी है। लेकिन हमारी इच्छा है कि इस हक को तुम छोड़ दो क्योंकि यह कानून चोरों ने बनाया व चोरों के लिए बनाया है। नैतिकता का कानून भिन्न है। इस जायदाद को समाज को दे देना चाहिए। बताओ, क्या राय है तुम्हारी। दोनों बच्चों ने कहा-पिताजी! आपने हमें पढ़ा दिया है, हमें लायक बना दिया है। अब हमें एक पैसा भी नहीं चाहिए। हमने सारी जमीन दान कर दी। पत्नी के पास जो जेवर थे वे भी बिक गए। किश्तों में हम देते चले गए व किश्तें लगती चली गयीं। पहली उस स्कूल में लगी जो हमारे गाँव में बना व अब एक इण्टर कॉलेज बन गया है। फिर अगली हमने गायत्री तपोभूमि में लगा दी। इस में औरों का भी पैसा लगा है पर पहली किश्त हमारी है। आपने शांतिकुंज देखा है, ब्रह्मवर्चस् देखा है, चौबीस सौ शक्ति पीठें देखी हैं। करोड़ों रुपये की बिल्डिगें हैं यह। इनसे आपको अंदाज लगेगा कि कितना धन हमने भगवान के खेत में बोया व कितना गुना यह हो गया। सहस्रकुण्डी यज्ञ जो हमने मथुरा में किया से लेकर यहाँ के रोजाना खर्च का आप हिसाब लगाएँ तो पता चलेगा कि लाखों रुपये रोज का खर्च है। न जाने कहाँ से आता है यह। हमने प्रतिज्ञा की हुई है कि हम मनुष्य के आगे हाथ नहीं फैलाएँगे। लेकिन भगवान हमें सब देता चला गया। हमने न कभी ईमान गँवाया न भगवान को। इसका परिणाम यह कि जितना हमने बोया, उससे कहीं अधिक काटा है। साधना की सिद्धि जितनी मिलनी चाहिए थी, हमें मिलती चली गयी। अभी और आपका बचा हुआ समय है, उसके बारे में बताइए? जब तक हमारा शरीर है, तब तक व्यक्ति के ही नहीं समाज के निमित्त हमारा रोम-रोम लगेगा, यह हमारा संकल्प है।

साधना से सिद्धि का सिद्धान्त उपासना, साधना, आराधना इन तीन सूत्रों पर चला है। ये तीनों क्या हैं? ये हैं जमीन, खाद और पानी। भगवान के चरणों में हमने अपने आपको समर्पित किया है व भगवान जितने शक्तिशाली हैं, उतने ही हम हो गए। ईंधन को आग में डाल देते हैं, वह भी उतना ही गरम और आग जैसा हो जाता है। हम भी वैसे ही हो गए हैं। यह उपासना है। साधना हमनें जीवन भर की है। साधना अर्थात् माला जपना नहीं, साधक

महाभारत चल रहा था। कौरव पाण्डवों के बीच भयंकर युद्ध चल रहा था। कर्ण और अर्जुन के बीच भयंकर बाण वर्षा चल रही थी।

अवसर पाकर एक भयंकर सर्प कर्ण के तूणीर में घुस गया। कर्ण ने बाण निकाला तो स्पर्श कुछ अनोखा लगा। उसने सर्प को देखा और आश्चर्य से पूछा तुम यहाँ किस प्रकार आगये।

सर्प ने कहा अर्जुन ने एक बार खाण्डव वन में आग लगा दी थी। उसमें मेरी माता जल गई। तभी से मेरे मन में प्रतिशोध जल रहा है और इस ताक में था कि कोई अवसर मिले और मैं अर्जुन के प्राण हरण करूँ। आप मुझे तीर के स्थान पर चला दें। मैं जाते ही अर्जुन को डस लूँगा। आपका शत्रु मर जायगा और मेरा प्रतिशोध शान्त हो जायगा।

कर्ण नें कहा अनैतिक उपाय से सफलता पाने का मेरा तनिक भी विचार नहीं है। सर्प देव आप वापस लौट जायँ।

का जीवन जीना। हमने अपनी इन्द्रियों को साधा है। मनको, बुद्धि को संयत किया है, ठीक तरह से रखा है। यह साधना है। तीसरी आराधना वह, जिसके लिए हमने आपको अभी कहा। यह है समाज के लिए, देश के लिए, संस्कृति के लिए, भगवान के लिए जीवन जीना। भगवान का विराट रूप यही है। जन मानस को ऊँचा उठाने के लिए लगे रहने को आराधना कहते हैं। हमने जीवन भर आराधना साधना व उपासना की है तथा उसका परिणाम हमारे सामने है। यही आप अपने जीवन में देखना चाहें तो आप भी प्रयोग कर सकते हैं। फिर आप हमें बताइए कि आपकी साधना सिद्धि की दिशा में फली कि नहीं। हमारी बात समाप्त। ॐ शांतिः। ✲

दिव्य अनुदानों हेतु एक महत्वपूर्ण सुयोग

मनुष्य का निज का पुरुषार्थ अपनी जगह महत्वपूर्ण है किन्तु यदि परिस्थितियाँ साथ दें व अनुकूलता मिल सके तो सफलता की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है। यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है कि धरती में उगेगा बीज ही, श्रेय भी धरती की उर्वरता को मिलेगा किन्तु वर्षा ऋतु आने पर पौधे जल्दी उगने व बढ़नें लगते हैं, यह तथ्य अपनी जगह सही है। यहाँ वर्षा ऋतु की भूमिका अनुकूल अवसर बनाने का सरंजाम जुटाने की है। फूल अन्यान्य महीनों में भी खिलते हैं किन्तु बसन्त ऋतु में वृक्ष वनस्पतियों की हरीतिमा जिस प्रकार फूल- कोंपलों से लदी देखी जाती है, वैसी किन्हीं अन्य माहों में नहीं।

ऋतुएँ सभी अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं किन्तु गर्मी के मौसम में आने वाले आँधी तूफान सारी धरती की सीलन सुखाने व बुहारी लगाने का ही काम करते हैं, यह काम अन्यान्य ऋतुओं में नहीं हो पाता। शीतऋतु की कुछ प्रभाविकता ही इस प्रकार की होती है कि उन दिनों किये गए स्वास्थ्य संवर्धन के प्रयोग निश्चित रूप से सफल होते हैं।

साइकिल चलाने वाले के अपने पुरुषार्थ की भूमिका अपनी जगह है पर यदि हवा का रूख पीछे से हो तो सड़क पर चल रही साइकिल सरपट भागने लगती है। पानी पर रेंग रही नाव पीछे से हवा का सहारा मिलने पर तेज भागने लगती है। पाल वाली नौका तो चलती ही इस माध्यम से है।

पढ़ने वाले हर विद्यार्थी को अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होने का श्रेय मिलता है किन्तु कुशल अध्यापक का यदि मार्गदर्शन मिल जाय तो विद्यार्थी मेरिट लिस्ट में नाम ले आता है। बाजार में सामान तो बिकता ही रहता है व उत्पादक उस क्रम से अपना लाभ कमाते ही रहते हैं किन्तु माँग बढ़ने के साथ उत्पादन के बाजार में पहुँचते ही अच्छा मुनाफा मिलने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। यहाँ उत्पादन के साथ जुड़ी हुई अनुकूलता महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

उपरोक्त सारे प्रसंग इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि वैयक्तिक पुरुषार्थ के साथ साथ यदि परिस्थितियों के प्रभाव बाहय अनुकूलताओं के योगदान को भी जोड़ दिया जाय तो अभीष्ट परिणाम सुनिश्चित रूप से मिलने के अवसर बढ़ जाते हैं। प्रतिपाद्य विषय उपासना-साधना पर भी यही तथ्य लागू होता है। साधक का अपना पुरुषार्थ प्रमुख है, उपासनात्मक उपचार उसे ही अपने भाव-जगत में करना है किन्तु वातावरण तथा परिस्थितियों की भी इन उपचारों में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, यह तथ्य नहीं बिसराया जाना चाहिए।

कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं, विलक्षण अनुकूलताएँ परोक्ष जगत में विद्यमान होती हैं कि उस

> *दक्षिण भारत के तलाम पैठ इलाके के एक कुलीन सम्पन्न और विद्वान परिवार में गोपाल कृष्ण जन्मे। पिता माता उन्हें सुखी गृहस्थ के रूप में देखना चाहते थे. पर उनने अपने जीवन को लोक मंगल के लिए समर्पित करने का निश्चय किया।*
>
> *पिता-माता को वे भीष्म-लक्ष्मण, हनुमान, नचिकेता, ज्ञानेश्वर आदि की कथाएँ सुना कर उन्हें परमार्थरत जीवन बिताने की आज्ञा माँगते थे। पर वह मोहग्रस्त अभिभावकों से मिल नहीं सकी। तो भी उन्होंने अविवाहित रहने का निश्चय तो घोषित कर ही दिया।*
>
> *पिता माता के न रहने पर उनने अपनी पैतृक सम्पदा ग्राम पंचायत के सुपुर्द करके विद्यालय चला दिया। स्वयं परिव्राजक होकर निकल पड़े। समाज सुधार और चरित्र निर्माण की दृष्टि से उनने कार्य क्षेत्र को उन दिनों आदर्श स्तर का बनाकर दिखा दिया।*

समय किया गया थोड़ा सा साधनात्मक पराक्रम ही अपरिमित फल देने वाला सिद्ध होता है। ऐसा ही कुछ समय युग संधि की इस वेला में हम सबके समक्ष उपस्थित है। नौ वर्ष का एक अति विशिष्ट समय अब हमारे सामने है जिसका एक एक दिन नवरात्रि के एक दिन एक पल के समान है। इस समय विशेष को यदि समझते हुए इसका लाभ उठाने का प्रयास किया जाय, आलस्य प्रमाद की दीर्घसूत्रता में न गँवाकर इसका विशिष्ट प्रयोजन हेतु उपभोग किया जाय तो न केवल अपना वरन् अपने साथ-साथ सारी

जगती का कल्याण निश्चित है। तीर्थ स्नान तो कभी भी किया जा सकता है पर विशिष्ट पर्वों पर किये गए स्नान का विशिष्ट पुण्य है। सोमवार तो वर्ष में बावन बार आते हैं किन्तु श्रावण मास में पड़ने वाले सोमवारों का पर्व की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्व है। आध्यात्मिक पुरुषार्थ हर ऋतु में किए जा सकते हैं किन्तु चैत्र व आश्विनी की नवरात्रियों में कुछ ऋतु प्रभाव परोक्ष जगत में इतना तीव्र होता है कि तनिक सा उपासनात्मक प्रयास ही अत्यन्त प्रभावोत्पादक परिणाम सामने लाने वाला सिद्ध होता है। उपासना दिन-रात कभी भी की जा सकती है, पर प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त्त में किये गए उपचार विशेष शक्ति प्रदान करते हैं।

अवसर को पहचानने की समझदारी जब विकसित हो जाए तो इसे परम पिता की सबसे बड़ी अनुकम्पा माननी चाहिए। महानता को प्राप्त करने के लिए आत्मसाधना और आत्म विकास की तपश्चर्या अपनी जगह अनिवार्य है किन्तु श्रुति यह भी संकेत करती है कि महानता से सम्पर्क साधने और लाभान्वित होने का अवसर भी न चूका जाय। यों ऐसे अवसर विरले ही होते हैं व कभी-कभी ही किसी भाग्यशाली को मिलते हैं किन्तु कदाचित वैसा सुयोग बैठ जाय तो ऐसा अप्रत्याशित लाभ मिलता है जिसे लाटरी खुलने और देखते-देखते मालदार बन जाने के समतुल्य कहा जा सकता है।

हम इतिहास के उदाहरण देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। रामचरित्र से जुड़ जाने पर कितने ही नगण्य-सामान्य स्तर के व्यक्ति असामान्य श्रेय के अधिकारी बन गए। बंदरों की उछल कूद एक सुयोग के कारण ऐतिहासिक श्रमशीलता में बदल गई एवं उनका थोड़ा सा पुरुषार्थ "रामकाज" के लिए लग गया तो वे अभिनन्दनीय बन गए। नल-नील समुद्र पर पुल बनाकर व हनुमान सीता की खोज हेतु समुद्र की छलाँग लगाकर अमर बन गए। जब विशिष्ट दैवी प्रयोजनों के निमित्त साहस जुटाया जाता है तो दैवी सहायता भी असाधारण मात्रा में उपलब्ध होने लगती है।

कृष्ण चरित्र पर दृष्टिपात करने पर भी ऐसे ही तथ्य उभर कर आते हैं। ग्वालबालों की लीला कोई विशिष्ट महत्वपूर्ण कृत्य नहीं है पर कृष्ण के साथ उठी उनकी लाठी जब गोवर्धन को उठाकर इन्द्र के अभियान को मिटाती है तो यही कृत्य पुराण उपाख्यानों में बार बार दुहराया सराहा जाने लगता है। अर्जुन व भीम को वनवास में पेट भरने के लिए बहुरूपिया बनकर किसी तरह दिन गुजारने पड़े थे। द्रौपदी को इन्हीं सब बलवानों ने निर्वसन होते देखा था व अपनी समर्थता का वे कुछ उपयोग कर नहीं पाए। किन्तु यह पाण्डवों की बुद्धिमत्ता थी कि उनने कृष्ण का वरण किया व महाभारत में अर्जुन का सारथी स्वयं भगवान को बनाया। यह चयन की विशिष्टता एवं अवसर विशेष ही उन्हें बड़भागी बना सका। जीवन संग्राम में ही नहीं, हमेशा हमेशा के लिए उन्हें श्रेय का अधिकारी बना गया।

महानता आग के समान है, सौभाग्य के समान है। जिस किसी को महानता से जुड़ने का अवसर मिला है या अवसर विशेष आने पर उसे पहचानकर जुड़ने का सौभाग्य मिला है, वह निहाल हो गया है। युगसंधि का प्रस्तुत संक्रमण काल कुछ ऐसे ही महान अवसरों-सौभाग्यों को लेकर आया है। रोजमर्रा के कामों को तो सभी अपनी लगन से हमेशा करते रहते हैं। किन्तु ऐसे अवसर विशेषों पर यदि साधनात्मक पुरुषार्थ कर लिया जाय तो उससे प्राप्त दिव्य अनुदान युगों-युगों के लिए धन्य ही नहीं बनाएँगे अपितु साधक का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में भी लिखवा देंगे। ऐसी विशिष्ट घड़ियाँ कभी हजारों

आगामी प्रगतिशील जातीय सम्मेलन निम्न तारीखों में

(१) जाट समाज- ३ से ७ अक्टोबर ९१ (२) कुर्मी, पटेल (गुज.) पाटिल समाज (महा.)-२० से २४ अक्टोबर ९१ (३) कायस्थ समाज-२६ से ३० अक्टोबर ९१ (४) प्रजापति समाज ८ से १२ नवम्बर ९१ (५) ठक्कर समुदाय १३ से १७ नवम्बर ९१ (६) ब्राह्मण समाज १८ से २२ नवम्बर ९१ (७) चौरसिया समाज-२३ से २६ नवम्बर ९१ (८) भूमिहार ब्राह्मण २७ नवम्बर से १ दिसम्बर ९१ (९) आदिवासी समुदाय - २० से २४ दिसम्बर ९१ (१०) यादव समाज २६ से ३० दिसम्बर ९१ (११) हैहय वंशीय क्षत्रिय समाज ४ से ८ जनवरी १९९२(१२) वैश्य समाज १२ से १६ जनवरी ९२(१३) साहू समाज १७ से २१ जनवरी ९२ (१४) सोनी समाज १ से ५ फरवरी ९२ (१५) विश्वकर्मा समाज १३से १७ फरवरी ९२ (१६) क्षत्रिय समाज १९ से २३ फरवरी ९२।

लाखों वर्ष बाद आती हैं। स्वयं महाकाल इस वेला में सुपात्रों में अनुदान बाँटने के लिए तत्पर हुआ है। यों योगाभ्यास, तपश्चर्या, व्रतशीलता, ब्रह्मविद्या आदि के क्षेत्र में गहराई तक उतरने वाले ही कुछ ऋद्धि-सिद्धियों के अनुदान उपलब्ध कर पाते हैं पर कभी कभी ही ऐसा समय आता है जब पर ब्रह्म की सत्ता स्वयं अनुग्रह लुटा कर बहुमूल्य अनुदान उपहार के रूप में नगण्य से पुरुषार्थ के बदले देने की प्रक्रिया पूरी करती है। सन् २००१ तक चलने वाला समय कुछ ऐसा ही विशिष्ट है

परम पूज्य गुरुदेव की सूक्ष्म व कारण शरीर की सत्ता इन दिनों अध्यात्म के ध्रुव केन्द्र हिमालय से सक्रिय होकर ऐसी दिव्य क्षमताओं का प्रसार-विस्तार कर रही है जिन्हें ग्रहण-धारण करने वाले असाधारण शक्ति सामर्थ्य ही नहीं उपलब्ध करेंगे संसार का तथा साथ-साथ अपना भी भला करेंगे। हिमालय स्थित ऊर्जा केन्द्र इन दिनों अत्यधिक सक्रिय है। दिव्यचक्षु जिन्हें प्राप्त हैं, वे वहाँ से ज्वालामुखी की तरह उठती उबलती-उछलती लपटों को देखते हैं व इसे विशिष्टों को विशिष्ट व सामान्यों को उनके स्तर की क्षमताएँ उपलब्ध कराने वाले अनुदानों का निर्झर मानते हैं। परम पूज्य गुरुदेव के जीवन भर के तप ने अगणित व्यक्तियों को अनुदान देकर उन्हें सामान्य से असामान्य बना दिया। प्रत्यक्षतः अनुदान लाखों व्यक्तियों को मिले व वे जिस क्षेत्र में चाहते थे, भौतिक अथवा आध्यात्मिक प्रगति कर सकने में सफल हुए। अब भी वह स्रोत यथावत् विद्यमान है। संधिकाल में वह और भी अधिक परिमाण में करोड़ों तक अनुदान बाँटने हेतु महाकोष की तरह खुला हुआ है, बस स्थूल आँखों से उसे देखा नहीं जा सकता। सम्पर्क जोड़ने का एक मात्र माध्यम है दैनन्दिन जीवन में गायत्री उपासना में और अधिक प्रखरता का समावेश तथा इस शक्ति साधना वर्ष में अनुदान पाने हेतु अपनी पात्रता को निखारने का प्रयास पुरुषार्थ। इसके लिए युगसाधना के उद्गम स्रोत शांतिकुंज युगतीर्थ से निरन्तर सम्पर्क बनाए रहना व वहाँ सम्पन्न होने वाले शक्ति साधना सत्रों में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना अनिवार्य है। परम पूज्य गुरुदेव की शक्ति का संवहन माता भगवती देवी कर रही हैं। उनकी साधना की प्रचण्डता से ही प्रतिपल अगणित व्यक्ति अनुदानों से लाभान्वित हो रहे हैं।

इस वर्ष चौबीस प्रान्तों में दो सौ चालीस टोलियाँ शक्ति साधना का आलोक जगाने देश के कोने कोने तक जाएँगी। इस प्रकार अखण्ड दीपक की ऊर्जा का आलोक सारे देश भर व विदेश में बैठे प्रवासी परिजनों तक सतत् पहुँचता रहेगा। इन आयोजनों से जो ऊर्जा विस्तार प्रक्रिया सम्पन्न होगी उसका चमत्कार शीघ्र ही परिजन विराट रूप में देखेंगे इन आयोजनों के अतिरिक्त उनके लिए जो उपासना पराक्रम महाकाल की सत्ता ने निर्धारित किया है, तत्संबंधी मार्गदर्शन देने हेतु आगामी मास की अखण्ड-ज्योति पत्रिका का अंक उपासना विशेषांक " के रूप में प्रकाशित होगा। इसमें अपनी स्थूलसूक्ष्म व कारण शरीर की सत्ता को निखारने व इस विशिष्ट संक्रातिकाल में विशिष्ट साधना पुरुषार्थ से अधिक से अधिक आध्यात्मिक तथा भौतिक अनुदान पाने संबंधी महत्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। कहा गया है कि यह समय अति विशिष्ट है। आश्विन नवरात्रि पर उपलब्ध होने वाले इस अंक का महत्व इसी तथ्य से और भी बढ़ जाता है कि इन नवरात्रियों से ही बिना समय गँवाये अपने साधनाक्रम को आरंभ कर दिया जाना चाहिए। ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते। यदि इस का लाभ उठा लिया गया तो यह निश्चित मान लिया जाना चाहिए कि अत्यधिक श्रेय उठा लेने वाले दूरदर्शियों में अपनी गणना हो गयी। *

शर शैया पर लेटे हुए भीष्म उपस्थित समुदाय को धर्मोपदेश दे रहे थे। उन्हें उत्तरायण सूर्य आने तक प्राण छोड़ने नहीं थे।

श्रोताओं में द्रौपदी भी उपस्थित थी। धर्म चर्चा के बीच वह मुसकाई भी और व्यंगपूर्वक बोली। जब दुःशासन द्वारा भरी सभा में मुझे नंगी किया जा रहा था और जब दुर्योधन अनीति युद्ध पर उतारू था तब आपने उसकी सहायता करने की अपेक्षा यही धर्मोपदेश क्यों नहीं दिये। जो इस समय हम सब को दे रहे है।

भीष्म निरुत्तर हो गये तो भी उनने कहा देवि उन दिनों मैं कौरवों का अन्न खाता था। जैसा अन्न खाया जाता है वैसी ही बुद्धि भी बनती है। तब मेरी बुद्धि कुधान्य के कारण भ्रष्ट थी। अब वह अशुद्ध रक्त बह गया और शुद्ध रक्त बना है उसी कारण यह धर्मोपदेश बन पड़ रहे हैं।

अखण्ड-ज्योति मासिक
रजिस्टर्ड नं० एम.टी.आर. ९८
रजि० नं० आर. एन. २१६२/५२
लाइसेन्स संख्या एम.टी.आर. ८ डाक व्यय की पहले अदायगी किये बिना डाक में डालने के लिये लाइसेन्स प्राप्त
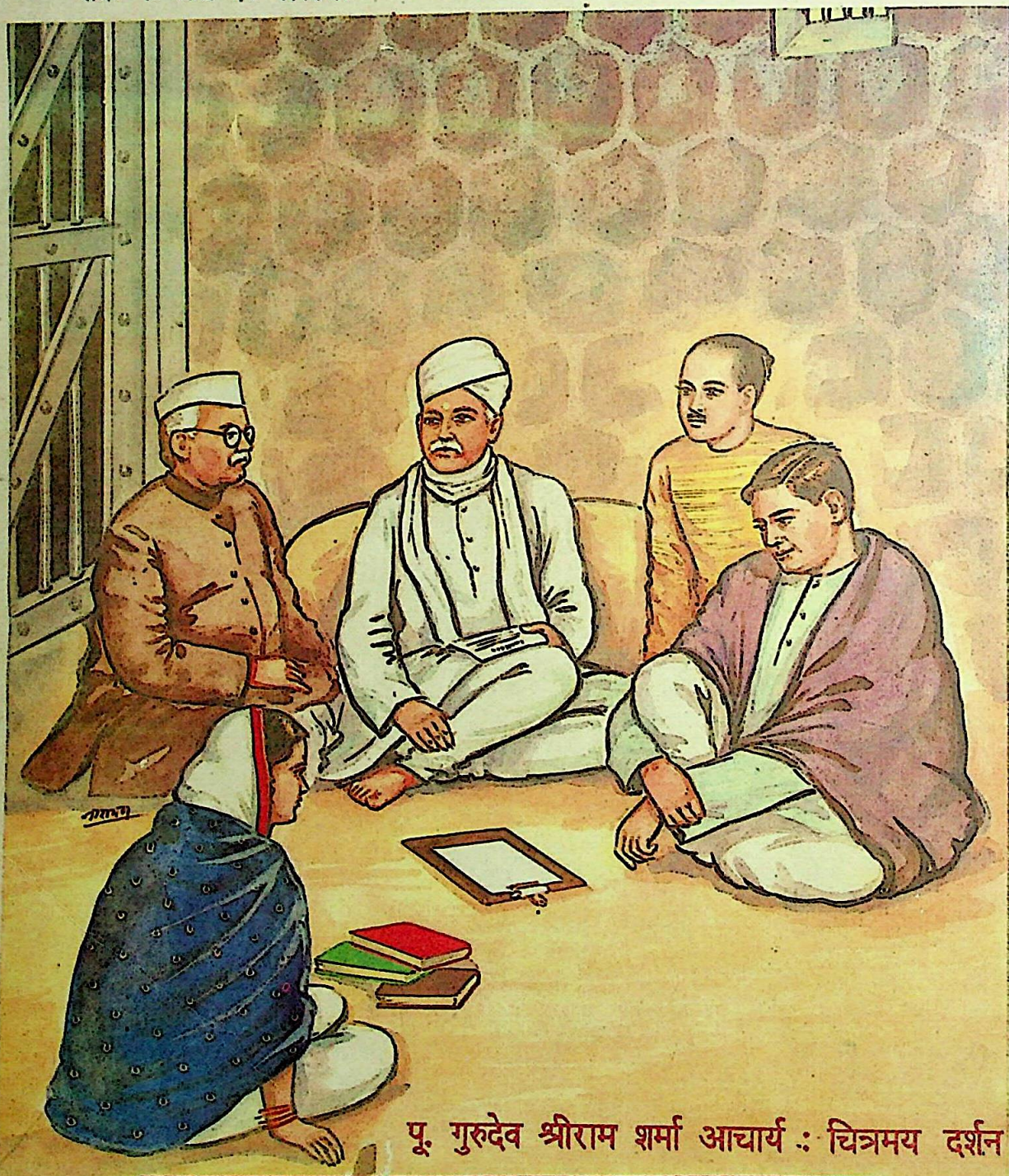
पू. गुरुदेव श्रीराम शर्मा आचार्य : चित्रमय दर्शन

आसनसोल जेल में महामना मालवीय जी से युवा श्रीराम ने मुट्ठी फण्ड का मूलमंत्र लिया एवं भावी समाज निर्माण सम्बन्धी निर्धारण हृदयंगम किए ।

सम्पादक - भगवती देवी शर्मा, प्रकाशक व मुद्रक - मृत्युञ्जय शर्मा
अखण्ड-ज्योति संस्थान द्वारा जन जागरण प्रेस मथुरा २८१००३ में मुद्रित ।